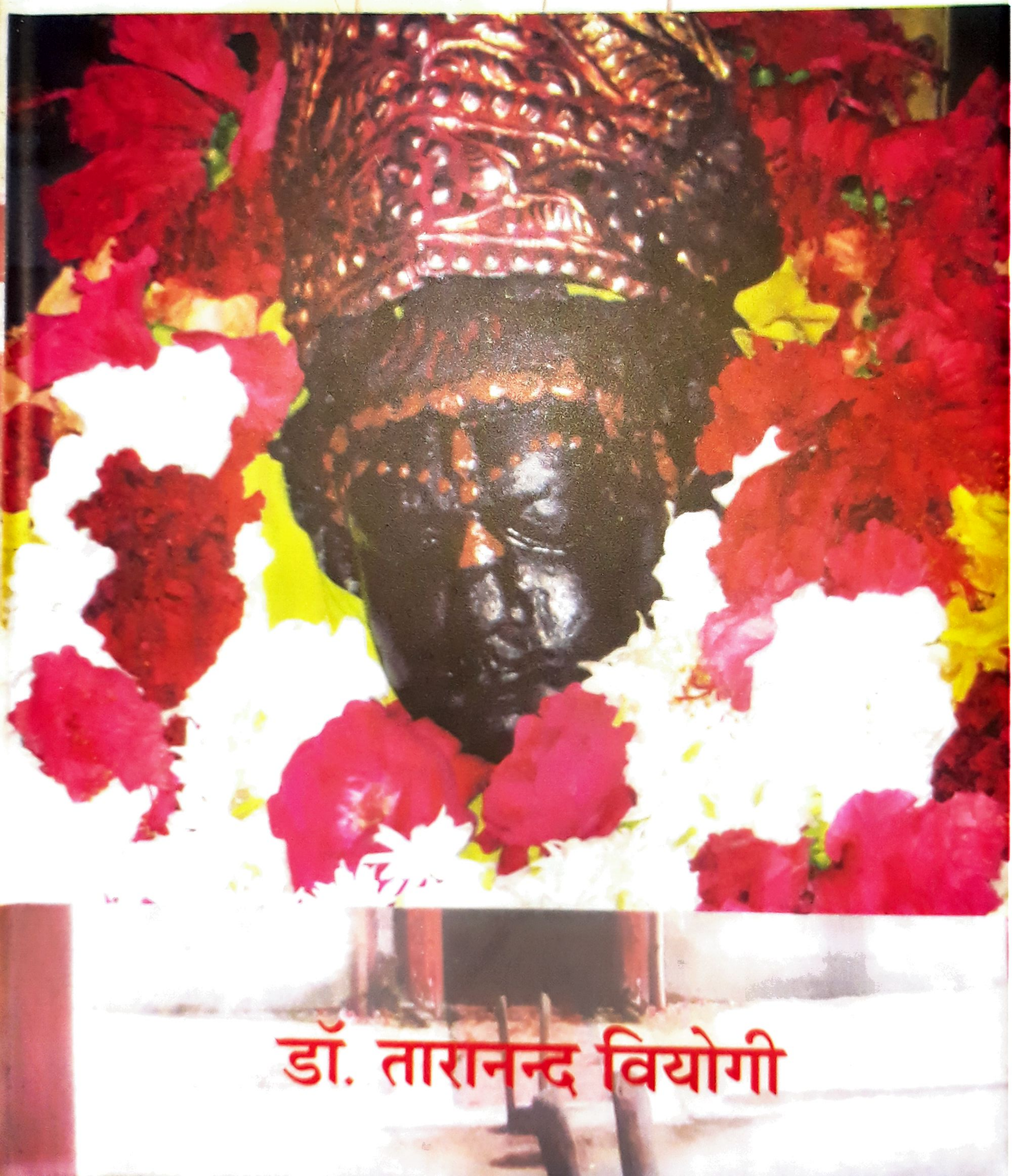
महिषी की तारा

इतिहास और आख्यान



डॉ. तारानन्द वियोगी



तारा उग्र महोग्रा रूपा।
एकजटा तुअ विकट स्वरूपा।।
नीलसरस्वति ज्ञान प्रदाता।
ममतामयि वत्सल तुम माता।।
खदिरबनी हे सब गुण आगर।
ध्यान, ज्ञान ओ मुक्तिक सागर।।
बरन-बरन के रूप तिहारो।
जननि जुड़ाबिय नैन हमारो।।
चीनाचार नियम जे धरिहें।
सो जननी भवपार उतरिहें।।
जाति-धरम के भेद न माने।
नारि-द्वेष नहि मन में आने।।
और न राखे कपट-वितंडा।
जननि न रुचिहें कहुँ पाखंडा।।
शौच-अशौच को भेद न राखे।
मधुर वचन सब जन सों भाखे।।
सब विधि, सब क्षण माँ को प्यारा।
हृदय चेत मुँह तारा-तारा।।

महिषी की तारा

इतिहास और आख्यान

डॉ० तारानन्द वियोगी

प्रकाशक
नवारम्भ
पटना

महिषी की तारा : इतिहास और आख्यान- डॉ. तारानन्द वियोगी

प्रथम संस्करण : नवरात्र, 2010 ई.
मूल्य : 150 रुपये

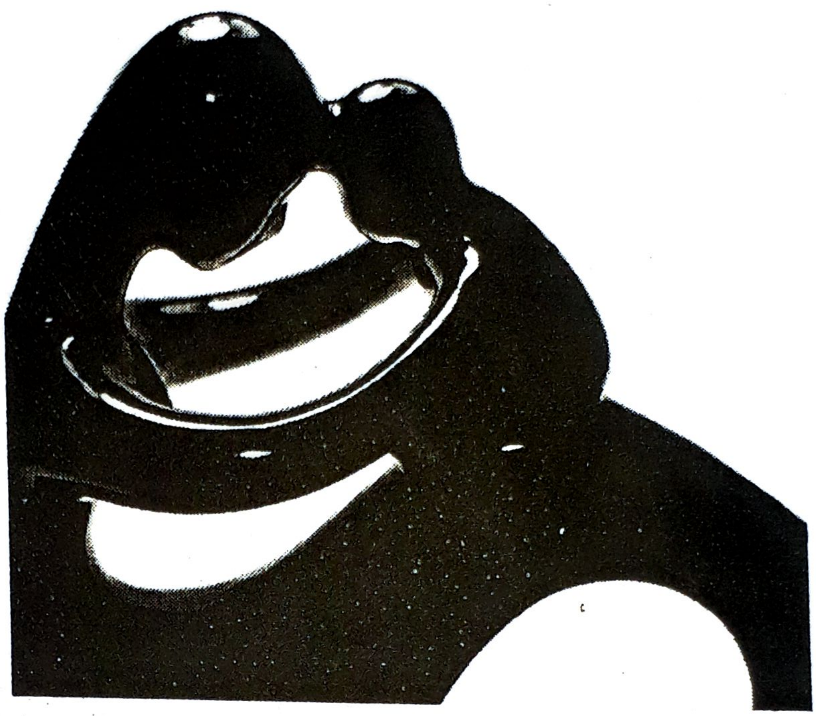
प्रकाशक
नवारम्भ
21, एम.आई.जी.
हनुमान नगर, पटना-20
मो॰-09234942661

मुद्रक
प्रोग्रेसिव प्रिन्टर्स
शाहदरा, नई दिल्ली

MAHISHI KI TARA : ITIHAS AUR AAKHYAN (Regional History)
By Dr. Taranand Viyogi, 2010, Price : Rs 150/-

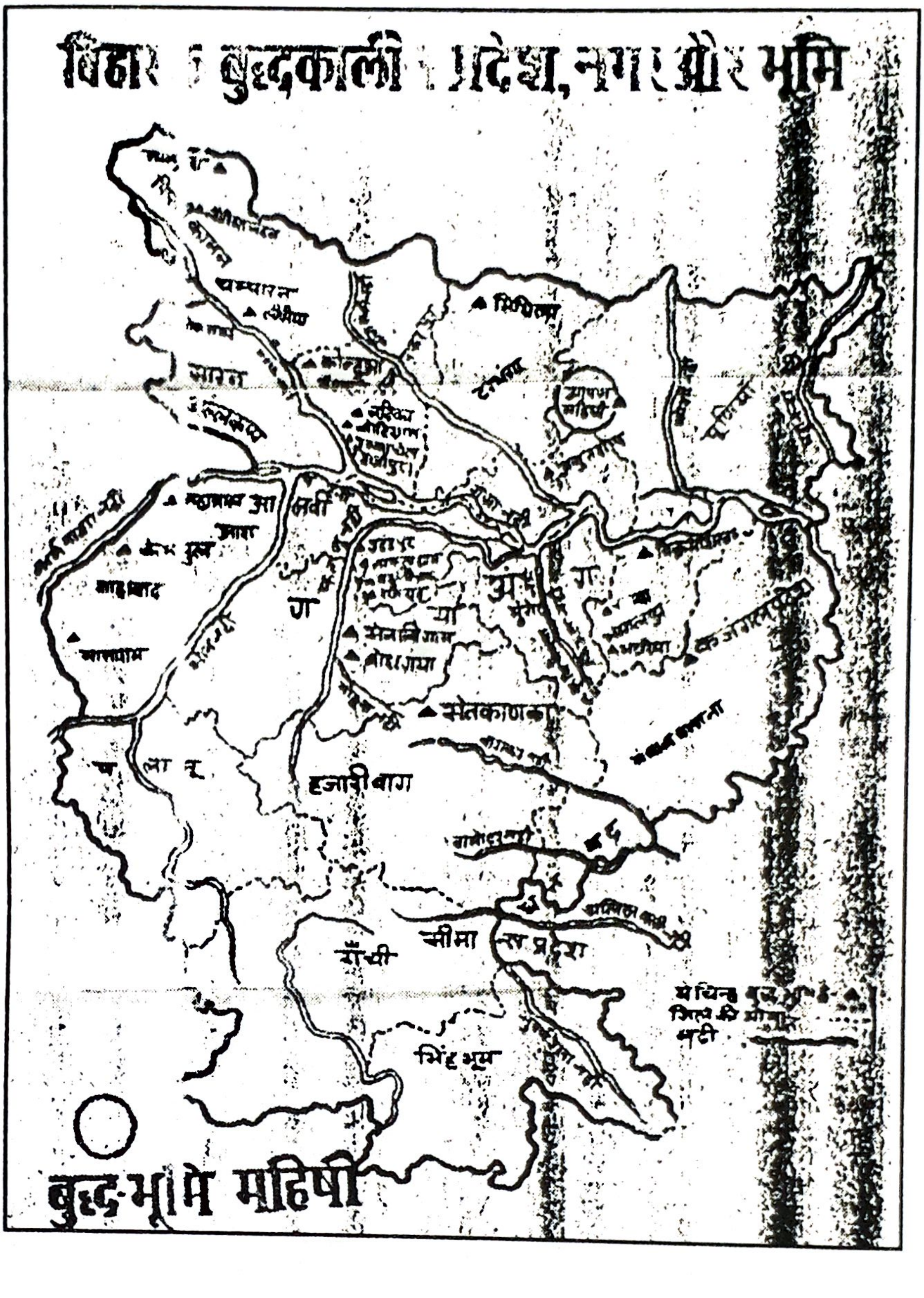
सिद्धपीठ तारास्थान के पुजारी
स्व. जगदीश झा तथा
स्व. पुलकित झा
की स्मृति को समर्पित

पन्द्रह साल हुए, उन्होंने मुझसे यह दक्षिणा मांगी थी।



एक आस बस माँ की ममता।
और न जग में इसकी समता।।

अनुक्रम



प्रथम अध्याय

महिषी-परिसर का सांस्कृतिक इतिहास

सिद्धपीठ महिषी का ज्ञात इतिहास तीन हजार वर्ष पुराना है। मिथिला का यह एकमात्र क्षेत्र है, जहाँ भगवान बुद्ध का आगमन हुआ। स्वयं बुद्ध ने यहाँ उन्नत वैदिक संस्कृति देखी थी। वैदिक काल में भी यहाँ विद्यापीठ विद्यमान था। मौर्य और मौर्योत्तर काल में इसकी महिमा न केवल विद्यमान रही, बल्कि उसका विस्तार ही हुआ। पाल काल की अवधि तो महिषी के इतिहास का स्वर्णयुग है। मैथिलों की पंजी व्यवस्था में महिषी मूल प्रमुखता से विद्यमान रहा। मिथिला-नरेशों ने भी इसकी महिमा बढ़ाने में कोई कोर-कसर न छोड़ी।

आगे तो देश आजाद हुआ और इसकी दुर्दशा का आरंभ हुआ।

आरंभिका

भगवती तारा का सिद्धपीठ महिषी गाँव में अवस्थित है। किसी धार्मिक क्रिया के मुख्य आधार-स्थान को 'पीठ' कहते हैं। निरन्तरतापूर्ण साधना-क्रिया की बदौलत उस आधार-स्थान में एक वृत्ताकार सूक्ष्म शक्ति-क्षेत्र निर्मित हो जाता है। यही पीठ का सिद्धत्व है, जिसे हम ध्यानावस्था में अनुभव कर सकते हैं। तंत्र में पाँच मुख्य पीठ माने गए हैं-- उड्डियान(उत्कल), जाल(जालंधर), पूर्ण(महाराष्ट्र), पतंग(श्रीशैल) तथा कामाख्या(असम)। इन मुख्य पीठों के अतिरिक्त अन्य अनेकानेक पीठों की भी गणना की गई है, जो अपने माहात्म्य में विभिन्न कारणों से विशिष्ट हैं। अलग-अलग आम्नायों में पीठों की अलग-अलग संख्याएँ प्रसिद्ध हैं।

महिषी को तारापीठ की स्थापना के लिए चुना गया, यह अकारण नहीं हो सकता था। निश्चय ही, इसके पीछे महिषी का प्राचीन इतिहास रहा होगा। इस विशिष्ट इतिहास ने ही इस स्थान को पीठ की गरिमा प्रदान की होगी। दुखद है कि इस ओर इतिहासकारों का ध्यान नहीं गया है। क्षेत्रीय इतिहास तैयार करने की प्रवृत्ति अब कुछ-कुछ उदित हो रही है। इतिहास के युवा अध्येताओं को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

महिषी वर्त्तमान में सहरसा जिले में पड़ता है। सहरसा जिला की स्थापना स्वतंत्रता के बाद, अप्रैल 1954 में हुई है। इस तिथि के पूर्व महिषी क्रमश: मुंगेर, भागलपुर तथा तिरहुत जिले का भाग रहा है। 1838 ई० के पूर्व यह तिरहुत जिले में था। मुगलकाल से ही महिषी की अवस्थिति कवखण्ड परगना में बनी रही। 'कवखण्ड' (अर्थात त्रिकालदर्शी कवियों का निवास-स्थल) का यह नामकरण भी इसके एक खास इतिहास की ओर संकेत करता है। यह नाम केवल स्थानवाचक नहीं था। स्तुति, धर्मचर्या, शास्त्रार्थ आदि का यह बोधक था। अन्यत्र भी हम इस बात का उल्लेख पाते हैं कि महिषी सदा से मिथिला का अभिन्न एवं उल्लेखनीय अंग रहा है। मिथिला ने मध्यकालीन विदेशी शासन के दौरान भी जिस तरह से अपनी अस्मिता, विद्या और व्यक्तित्व की रक्षा की, उसमें महिषी-परिसर भी पूर्णत: शामिल था और इस आत्मरक्षा-अभियान को इसने एक नया आयाम प्रदान किया था।

इसके पीछे निश्चित ही महिषी-परिसर के प्राचीन इतिहास का योगदान था, जिसने यहाँ की जनता में अपनी गौरवपूर्ण पहचान बनाए रखने की त्वरा पैदा की थी।

प्राचीन इतिहास का अन्वेषण करने पर हम पाते हैं कि सम्पूर्ण मिथिला में एकमात्र महिषी-परिसर ही था, जहाँ भगवान बुद्ध का आगमन हुआ था। इसके ऐतिहासिक प्रमाण विभिन्न ग्रन्थों में बिखरे पड़े हैं। यहाँ भगवान बुद्ध ने जो प्रवचन दिए थे और यहाँ उनके ठहरने की अवधि में जो प्रमुख घटनाएँ हुई थीं, उनका विवरण भी हमें विभिन्न बौद्धग्रन्थों में प्राप्त होता है। उन तथ्यों का अवलोकन करने से यह बात स्पष्ट होती है कि भगवान बुद्ध ने इस परिसर में जैसी संस्कृति देखी थी, उसकी जड़ काफी प्राचीन थी। इस तरह हम पाते हैं कि भगवान बुद्ध के भी काफी पहले से कई सांस्कृतिक विशिष्टताएँ इस क्षेत्र में विद्यमान थीं, जिन्होंने उनका (बुद्ध का) ध्यान आकृष्ट किया था। कुछ इतिहासकारों की राय तो यह है कि मिथिला में आर्यीकरण की शुरुआत इसी परिसर से आरंभ हुई थी। इसके पूर्व यह किरातों का क्षेत्र था, जिनकी भी अपनी विशिष्ट संस्कृति थी। महाभारत के अनुसार पाण्डवों ने किरात जाति के साथ वैवाहिक सम्बन्ध तक बनाया था। आगे चलकर आर्य एवं किरातों के समन्वय के पश्चात एक मिश्रित संस्कृति का विकास इस क्षेत्र में हुआ। संस्कृतियों का यही मिश्रण इस परिसर की सदाबहार जीवन-शैली का जनक रहा है। आज भी हम उसकी धड़कन महसूस कर सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी सांस्कृतिक विलक्षणता ने अपने काल में भगवान बुद्ध का भी ध्यान आकृष्ट किया होगा और वे इस स्थल पर पहुँचे होंगे।

बुद्धकालीन महिषी के कुछ चित्र

भगवान बुद्ध के काल में महिषी-परिसर आपण या आपणनिगम के नाम से जाना जाता था। यह अंगुत्तराप प्रशासनिक क्षेत्र के अन्तर्गत था। 'सुत्तनिपात' के एक प्रकरण से प्रतीत होता है कि यह समूचा क्षेत्र उस काल में मगध साम्राज्य के अधीन रहा होगा।

महावग्गो, मज्झिमनिकाय तथा सुत्तनिपात के विभिन्न प्रकरणों में भगवान बुद्ध के आपण-विहार के विवरण दर्ज किए गए हैं। आपण निगम में बुद्ध के विहार के दौरान निम्नलिखित घटनाओं का उल्लेख विभिन्न बौद्ध ग्रन्थों में हुआ है—

(1) अंगुत्तराप की सीमा में प्रवेश करते समय भगवान बुद्ध के साथ उनके 1250 शिष्य थे। प्रवेश के ही समय मेण्डक नामक एक गृहपति उनकी अगवानी में पहुँचा। उसके साथ कई बैलगाड़ियों पर दैनिक उपयोग के सामान लदे हुए थे, जिनमें चावल, दाल, नमक, तेल, मधु आदि थे। साथ ही बुद्धसंघ के प्रत्येक सदस्य को पर्याप्त दूध उपलब्ध कराने के निमित्त एक-एक गाय, इस प्रकार 1250 गायें उसके साथ थीं। गृहपति मेण्डक ने आगवानी के समय संघ के प्रत्येक सदस्य का स्वागत गाय के ताजा दूध से किया। मेण्डक के इस भावनापूर्ण सत्कार से भगवान बुद्ध इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उसी दिन से अपने संघ के लिए एक नवीन विधान निर्देशित किया। उस दिन से भिक्षुओं के लिए पंच-गोरस का प्रयोग विहित कर दिया गया तथा दुर्गम क्षेत्र में यात्रा के दौरान पाथेय-संचय (बटखर्चा) का भी विधान किया गया। (महावग्गो)

इस घटना में हम इस परिसर की अपूर्व स्वागत-सत्कार-परम्परा की झलक देख सकते हैं।

(2) वहीं, दूसरी घटना में हम इस क्षेत्र के निवासी अभिजात-जनों की अहम्मन्यता का दृष्टान्त देख सकते हैं। एक दिन पोत्तलिय नामक एक सम्भ्रान्त गृहपति भगवान बुद्ध से मिलने आया। तृतीय अवस्था प्राप्त करते ही पोत्तलिय ने अपनी सारी जायदाद पुत्र को समर्पित कर दी थी और वानप्रस्थ धारण कर लिया था। इस बात का उसे बहुत घमंड था। इससे अनुमान मिलता है कि वानप्रस्थी होने का दृष्टान्त उस समय समाज में कम ही मिलता होगा। यही कारण रहा होगा कि पोत्तलिय को इस त्याग ने घमंड से भर दिया था। भगवान बुद्ध तो ऐसे मामलों में

किसी को भी छोड़नेवाले न थे। कुछ-न-कुछ ऐसा वे कह ही देते जिससे सामनेवाले का होश जग जाता था। उन्होंने कहा— 'आओ आओ गृहपति, बैठो।' स्वभाविक था कि पोत्तलिय को 'गृहपति' का यह सम्बोधन बुरा लगा। उसने अपनी बड़ाई करते हुए अपने त्याग का गुण-गान करना शुरू किया। बुद्ध सुनते रहे। तब उन्होंने उच्छेद-कर्म के आठ यथार्थ धर्मों की व्याख्या करके उसे समझाया कि त्याग वास्तव में किसे कहा जाता है। यह व्याख्या सुनते ही पोत्तलिय के पाँव तले की जमीन खिसक गई। कथा कहती है कि उसे अपना व्यक्तित्व ठूंठ दिखाई पड़ने लगा। भगवान से वह इतना प्रभावित हुआ कि उसी दिन पव्रज्या ग्रहण कर संघ की शरण में चला आया। (मज्झिम निकाय)

(3) तीसरी कथा एक प्रसिद्ध तपस्वी से सम्बन्धित है। उसका नाम केणिय था। ऐसा लगता है कि वह किसी धार्मिक पीठ का महंत रहा होगा। उसके पास प्रचुर सम्पत्ति थी और वह काफी प्रभावशाली भी था, जबकि वह एक जटाधारी तपस्वी था। उसने जब सुना कि बुद्ध इस परिसर में आए हैं तो वह उनसे मिलने आया। उसे पता था कि बुद्ध अपने 1250 शिष्यों के साथ हैं। मिलने जाते समय कुछ उपहार तो ले ही जाना चाहिए, उसने सोचा कि कुछ नई चीज ले जानी चाहिए। कुछ विशिष्ट व लोकप्रिय पौधों के पत्तों व फलों को पिसवाकर उसने एक खास मैरेय तैयार करवाया तथा बहंगी पर लदवाकर बुद्धसंघ के पास ले आया। वह जानता था कि प्राचीन काल से ही ऋषि-मुनिगण इस रस का प्रयोग करते रहे हैं। उसने भगवान को यह मैरेय निवेदित किया। भिक्षुगण मदिरा-समान समझकर उस पेय को ग्रहण करने से कतराने लगे। किन्तु, चूँकि केणिय ने श्रद्धापूर्वक यह निवेदित किया था, अत: भगवान ने इसे ग्रहण करने का आदेश दिया।

हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि तपस्वी केणिय ने जो मैरेय लाया था, वह और कुछ नहीं, भाँग के पत्ते का रस रहा होगा, जिसमें काली मिर्च तथा इलायची, सौंफ आदि मिलाए गए होंगे। भिक्षुओं को यह पेय इतना पसन्द आया कि उसी समय से भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए कुछ खास पत्तों तथा फलों का रस पीने की छूट दे दी। (महावग्गो)

(4) इसी कथा से जुड़ा हुआ एक अन्य प्रसंग सुत्तनिपात में वर्णित हुआ है। इस प्रसंग के अनुसार तपस्वी केणिय ने बुद्ध संघ को भोजन के लिए निर्मंत्रित किया। उसके तीन बार प्रार्थना करने पर भगवान राजी हो गए। तब अपने आश्रम में जाकर केणिय भोजन की तैयारी करने लगा। साढ़े बारह सौ लोगों के श्रद्धापूर्ण भोजन की व्यवस्था कोई छोटी बात तो न थी। संयोग की बात। इसी तैयारी के दौरान सेल नामक एक सुप्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वान केणिय से मिलने चला आया। इतनी

भयंकर तैयारी होते देख सेल ब्राह्मण ने केणिय से पूछा– 'क्या कोई बारात आनेवाली है या मगधराज बिम्बिसार सदलबल आ रहा है?' केणिय ने ब्राह्मण को जवाब दिया– 'कल बुद्ध मेरे यहाँ अपने साढ़े बारह सौ शिष्यों के साथ भोजन पर आ रहे हैं।' सेल ब्राह्मण था प्रख्यात विद्वान। वह तीनों वेदों, कल्प, निघण्टु, व्याकरण, ज्योतिष, इतिहास, दर्शन, साहित्य, लोकायत आदि सभी शास्त्रों में पारंगत था और तीन सौ शिष्यों को विद्या प्रदान करता था। केणिय के द्वारा कहे गए 'बुद्ध' शब्द को उसने पकड़ लिया। उसने पूछा– 'बुद्धोति खो केणिय बदेसि?' (हे केणिय, तुम 'बुद्ध' कह रहे हो? यानी कि इस शब्द के अर्थ के प्रति होशपूर्ण तो हो न!) तो केणिय ने उत्तर दिया– 'बुद्धोति भो सेल बदामि!' (हे सेल, मैं समझ -बूझकर 'बुद्ध' कह रहा हूँ) आदि-आदि।

इस उत्तर को पाकर सेल ब्राह्मण बुद्ध के प्रति उत्सुक हुआ। केणिय के पास से उठकर वह सीधे भगवान बुद्ध के पास पहुँचा। बुद्ध को देखते ही वह चमत्कृत हुआ क्योंकि सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार महापुरुषों के बत्तीस लक्षण उनमें स्पष्ट दिखाई पड़े। उसने बुद्ध की स्तुति की तो बुद्ध ने भी अपना पूर्ण परिचय और सन्देश प्रस्तुत किया। सेल ब्राह्मण उनसे इतना प्रभावित हुआ कि अपने तीन सौ शिष्यों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर संघ में दाखिल हो गया।

इस घटना का अगला प्रसंग भी सुत्तनिपात में ही वर्णित हुआ है। प्रव्रत्या ग्रहण करने के उपरान्त सेल ब्राह्मण इतना अधिक एकनिष्ठ होकर आत्मोन्नति के लिए प्रयत्नशील हुआ कि सात ही दिन में उसने 'अर्हत्व' प्राप्त कर लिया। आठवें दिन वह भगवान से मिला। भगवान ने उसकी सफलता की बहुत प्रशंसा की। विवरण मिलता है कि इसके बाद उसने बुद्ध के मार्ग को बहुव्यापक बनाने के उद्देश्य से एक बौद्धपरिषद् कायम किया और अंगुत्तराप प्रदेश के भिन्न-भिन्न भागों में विहार करते हुए अपने प्रयत्न में लग गया।

इस प्रसंग से स्पष्ट ध्वनित होता है कि भगवान बुद्ध की इस यात्रा ने इस परिसर में 'सद्धर्म' को काफी व्यापकता प्रदान की, जिसके दूरगामी प्रभाव हुए।

(5) आपण निगम के परिसर में विहार करने के क्रम में एक और रोचक घटना का जिक्र मज्झिम निकाय में किया गया है। इस प्रसंग का वर्णन 'बौद्ध धर्म और बिहार' के लेखक हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' ने इन शब्दों में किया है–

'भगवान बुद्ध इसी 'आपण' निगम में, एक दिन वनखण्ड के एक भाग में जब विहार कर रहे थे तब वहाँ आयुष्मान 'उदायी' आए। इस जगह उदायी ने एक मनोरंजक घटना भगवान बुद्ध को सुनाई थी। उन्होंने कहा– 'भगवन्, जब आप छोटी-छोटी बातों के लिए भी प्रतिबन्ध लगाते थे, तब मैं समझ नहीं पाता था कि

मेरे शास्ता इन तुच्छ बातों के लिए इतनी कड़ाई क्यों करते हैं? इसी तरह जब आपने कहा– 'रात का भोजन भिक्षुओं के लिए वर्जित है' तब भी मुझे अच्छा नहीं लगा था, क्योंकि गृहस्थों के यहाँ रात में ही बढ़िया भोजन तैयार होता है। किन्तु, मुझे आपके कथन का तथ्य एक रात को मालूम हुआ, जब मैं उस रात को पिंडपात के लिए एक गाँव में गया। बात यों हुई कि रात अँधेरी थी, आकाश में बादल छाए हुए थे। टिप-टिप बूँदें गिर रही थीं। रास्ता दीख नहीं पड़ता था। मुझे भूख लगी थी, इसलिए मैं बगल के गाँव में पिंडपात के लिए पहुँचा। मैं जैसे ही एक गृहस्थ के द्वार पर पहुँचा कि इतने में बिजली चमकी और बिजली के प्रकाश में मैंने देखा कि द्वार पर एक स्त्री बर्त्तन माँज रही है। पर उस स्त्री ने इतने में ही बड़े जोरों से चीत्कार किया– 'अरे मरी, बचाओ-बचाओ! पिशाच पिशाच!' उसके चीत्कार से मैं तो बिल्कुल घबरा गया। पर शीघ्र ही कहा– 'अरी बहिन, मैं पिशाच नहीं हूँ। मैं भिक्षु हूँ, भिक्षाटन के लिए यहाँ आया हूँ।' वह बहुत डर गई थी। उसने काँपते हुए स्वर में कहा– 'तेरे भिक्षु के बाप मरे, माँ मरे। भिक्षु को चाहिए कि अपने ऐसे पेट को गाय काटनेवाली तेज छुरी से काट डाले, किन्तु इस तरह अँधेरे में भीख न माँगता फिरे।' मैं उस जगह से किसी तरह जान लेकर भागा। अतः हे भगवान्! आप मेरे दुःखों के अपहर्त्ता हैं।'

इस प्रकार, उपर्युक्त घटनाओं के अवलोकन से हमारे सामने निम्नलिखित तथ्य उद्घाटित होते हैं–

(1) भगवान बुद्ध के समय तक वैदिक धर्म इस परिसर में अपनी परिपूर्ण खिलावट प्राप्त कर चुका था। सम्भ्रान्त वर्ग की धर्मधारणा का यह अविभाज्य अंग बन चुका था।

(2) वैदिक धर्म को व्यवस्थित संस्थाबद्धता भी प्राप्त हो चुकी थी। धार्मिक केन्द्र खुल चुके थे। इन केन्द्रों को उदारतापूर्वक दान देने की उदार प्रथा समाज में प्रचलित थी। इन केन्द्रों के प्रधान महंत काफी अमीर हुआ करते थे।

(3) सामान्यतः लोग अपनी धर्म-धारणा के प्रति सजग तो पर्याप्त थे, किन्तु अपने मताग्रह को लेकर उनमें कट्टरता नहीं थी। इससे उनकी बौद्धिक परिपक्वता का भी पता चलता है।

(4) भगवान बुद्ध के चुम्बकीय व्यक्तित्व एवं आध्यात्मिक सिद्धांतों ने वैदिक धर्म को जबर्दस्त रूप से आलोड़ित किया था। इसका मुख्य कारण उनके सिद्धांतों की तर्कसंगति था, जो जीवन एवं जगत की ठीक-ठीक व्याख्या करने में सक्षम था। महिषी-परिसर में इसका हृदय से स्वागत हुआ था।

(5) प्राचीन वैदिक ऋषियों यथा विश्वामित्र, वामदेव, वामक, यमदग्नि,

अंगिरा, भरद्वाज, वशिष्ठ, कश्यप, भृगु आदि के अवदानों से यहाँ का समाज भली भाँति परिचित था। उनके ग्रन्थों एवं विचारों के प्रति आदर तो था ही उनके व्यक्तित्व के गुण-अवगुण भी चर्चा एवं प्रेरणा के विषय हुआ करते थे। बुद्ध एवं उनके संघ को मैरेय (भांग) पिलाने की प्रेरणा तपस्वी केणिय को इन्हीं ऋषियों के दृष्टान्त से प्राप्त हुई थी।

(6) इस परिसर के समाज में श्रोत संन्यास (कर्मयोग) की अवधारणा प्रचलन में थी, जबकि स्मार्त्त संयास (घर छोड़कर संन्यासी बाना धारण कर लेना) के प्रति आम तौर पर उपेक्षा की दृष्टि पाई जाती थी। सम्पूर्ण मिथिला में दो ही आश्रम मुख्य रूप से प्रचलित थे– ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ। वानप्रस्थ या संन्यास की अवधारणा पृथक् रूप से प्रचलन में नहीं थी। किन्तु, समाज पर बाह्य प्रभाव भी पड़ रहा था, जिसके कारण कई नई रीतियाँ उठान ले रही थीं। यही कारण है कि गृहपति पोत्तलिय वानप्रस्थ धारण करके घमंड में चूर था।

(7) वैदिक वाङ्मय, दर्शन एवं लोकायत के अध्ययन-अध्यापन की समृद्ध परम्परा समाज में विद्यमान थी। विद्वानों का बहुत आदर था। सारस्वत कर्म (अध्ययन-अध्यापन) को उच्च कोटि का गौरव प्राप्त था। आचार्य मण्डन मिश्र के विद्यापीठ की जो विशिष्टताएँ हमें परवर्त्ती काल में वर्णित दीख पड़ती हैं, उनकी एक स्पष्ट परम्परा थी, जिसका बीज बुद्ध-पूर्व के समाज में ही विद्यमान था।

(8) यह भी स्पष्ट होता है कि महिषी परिसर में बौद्ध धर्म का प्रवेश भगवान बुद्ध के ही समय हो चुका था। सेल ब्राह्मण के नेतृत्व में जिस बौद्ध परिषद् के गठन की बात सुत्तनिपात में कही गई है, उसका कार्य-क्षेत्र यही परिसर था। परवर्त्ती काल में इसका काफी विस्तार हुआ, इसके प्रमाण मिलते हैं। इस क्षेत्र में बुद्ध एवं उनसे संबंधित मूर्त्तियाँ बड़े पैमाने पर मिलती रही हैं, उनका संकेत भी इसी ओर है।

महिषी-परिसर के स्वर्णिम इतिहास का यह पहला अध्याय है। इसका दूसरा अध्याय वहाँ से शुरू होता है जब केणिय तपस्वी एवं सेल ब्राह्मण के संयुक्त प्रयास ने 'सद्धर्म' के प्रतिष्ठापन का आन्दोलन इस परिसर में चलाया। सुत्तनिपात में केणिय तपस्वी के द्वारा बुद्ध-संघ को भोजन पर आमंत्रित करने का प्रसंग आया है। इसका वर्णन हम ऊपर कर आए हैं। हमने यह भी उल्लेख किया है कि उसी दिन सेल ब्राह्मण ने भगवान बुद्ध से प्रभावित होकर अपने तीन सौ शिष्यों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर ली थी। प्रसंग के अवलोकन से पता चलता है कि इस घटना की जानकारी तत्काल केणिय को नहीं हो पाई। दूसरे दिन जब बुद्ध-संघ केणिय के आश्रम में भोजन पर पहुँचा तो उसमें 1250 नहीं अपितु 1551 भिक्षु थे। केणिय

ने उसी वक्त देखा कि भोजन--पंक्ति में, मुण्डित होकर सेल ब्राह्मण भी अपने शिष्यों के साथ बैठे हुए हैं। इस दृश्य को देखकर वह बहुत ही गद्‌गद्‌ हुए। उन्हें यह देखना इतना प्रीतिकर लगा कि वह स्वयं भी भगवान बुद्ध के चरणों में गिर पड़े। सेल ब्राह्मण का बुद्ध-मार्ग में दीक्षित होना सचमुच एक बड़ी घटना थी। उससे भी बड़ी घटना थी सात दिन के भीतर उनका बुद्धत्व प्राप्त करना। इस घटना ने परिसर में बुद्ध के प्रताप की धूम मचा दी। बुद्धकाल के ऐतिहासिक शोध-ग्रन्थों में आपण निगम का बड़ा स्थान निरूपित किया गया है, जिसका कारण है केणिय एवं सेल के द्वारा 'सद्धर्ध' का स्वीकार।

मौर्य और मौर्योत्तर काल की झलक

इतिहास की गहरी छानबीन से हम देख सकते है कि मौर्यकाल में इस परिसर में बौद्ध गतिविधियों की काफी सक्रियता रही। यह परिसर मौर्य शासन के अधीन था, यह साफ दृष्टिगोचर होता है। सम्राट अशोक के काल में प्रत्येक ऐसे स्थान को, जहाँ बुद्ध के चरण पड़े थे तथा जिस जगह के साथ कोई महत्वपूर्ण घटना जुड़ी हुई थी, को तीर्थ के रूप में विकसित करने का अभियान चला। तीर्थ एवं शक्ति-केन्द्र के रूप में महिषी-परिसर को विकसित करने का पहला गंभीर प्रयास मौर्यकाल में ही हुआ, यह प्रतीत होता है। किन्तु इस बात को प्रमाणित करने का पर्याप्त प्रमाण हमारे पास उपलब्ध नहीं है। इसके पीछे निश्चित रूप से इस परिसर की सरकारी-गैरसरकारी उपेक्षा है। यह उपेक्षा इतनी सुस्पष्ट दीख पड़ती है कि इसे हम एक षड्यंत्र के रूप में भी देख सकते हैं। पिछले 125 वर्षों से इस परिसर की पुरातात्त्विक खुदाई की बात सरकारी तंत्र के द्वारा कही जाती रही है, लेकिन हर बार किसी-न-किसी अज्ञात कारण से इसे टाल दिया गया है।

1900-1905 ई॰ के बीच गोरहो घाट के एक संरक्षित स्थल से 58 आहत सिक्के (Punch Marked Coins)प्राप्त हुए थे। इन सिक्कों के सम्बन्ध में विश्लेषणात्मक अध्ययन 1919 ई॰ में बिहार एवं उडीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल में प्रकाशित हुआ। ये सभी सिक्के मौर्यकालीन थे। उसी दौरान इस परिसर को मौर्यकालीन गतिविधियों का महत्त्वपूर्ण केन्द्र होने की संभावना व्यक्त करते हुए, क्षेत्र को संरक्षित घोषित किया गया था और व्यापक रूप से खुदाई की योजना बनाई गई थी। वह अब इतिहास की बात हो चुकी है। संरक्षित स्थल पर आज मुहल्ला बस चुका है। इस दिशा में कार्य को थोड़ा भी आगे बढ़ाने का व्यक्तिगत प्रयास यदि किसी महापुरुष ने किया तो वह प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ॰ राधाकृष्ण चौधरी थे। उन्होंने 1958 ई॰ में इस परिसर का सर्वेक्षण किया था। पटुआहा ग्राम तथा परिसर के अन्य ग्रामों से उन्होंने अनेक सिक्के, मृद्भांड के नमूने तथा पुरातात्विक महत्व की अन्यान्य वस्तुएँ खोज निकालीं। उन्होंने वर्त्तमान महिषी गाँव से मृद्भाण्ड के नमूने एकत्रित किए। ये सभी सिक्के तथा अन्यान्य नमूने मौर्यकालीन थे। डॉ. चौधरी ने स्पष्ट किया है कि उन्हें प्राप्त हुए ये सारे सिक्के मगध सम्राट नन्द, अशोक, बिन्दुसार एवं दशरथ के द्वारा प्रवर्त्तित थे।

अभी हाल में, वर्ष 2007 में, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के पटना अंचल

के अधीक्षण पुरातत्त्वविद् डॉ. फणिकान्त मिश्र ने पुरावेत्ताओं की अपनी टीम के साथ महिषी का अध्ययन किया था। उनके द्वारा यह पूछने पर कि क्या यहाँ प्राचीन काल का कोई संरचनात्मक अवशेष कहीं दिखाई पड़ा है, ग्रामीणों ने बताया कि मण्डन मिश्र का सुप्रसिद्ध इनार(कूप) है। डॉ. मिश्र के द्वारा उत्सुकता व्यक्त किए जाने पर इन पंक्तियों के लेखक ने अपने सहयोगियों की सहायता से उक्त इनार के ऊपर जमी मिट्टी को हटाकर कूप को अनावृत्त किया। कूप की एक ईंट विश्लेषण के लिए डॉ. मिश्र को प्रस्तुत की गई। डॉ. मिश्र ने अपने विशेषज्ञों के विश्लेषणोपरान्त यह घोषित किया कि उक्त ईंट मौर्यकालीन है। दैनिक समाचारपत्रों में उनकी यह स्थापना प्रमुखतापूर्वक प्रकाशित हुई। इस प्रकार, जो कूप स्थानीय जनविश्वास में मण्डन मिश्र के समय (आठवीं शताब्दी ई०) का माना जाता था, वह वास्तव में उससे भी सात-आठ सौ वर्ष पुराना प्रमाणित हुआ।

वर्त्तमान में जो तारा-मंदिर बना हुआ है, उसका निर्माण खण्डवला वंशीय राजा नरेन्द्र सिंह (1743-1770 ई०) की पत्नी रानी पद्मावती ने कराया था। मंदिर-निर्माण के बाद तड़ाग के निर्माण के उद्देश्य से रानी ने मंदिर-परिसर के एक स्थल पर खुदाई आरंभ करवाई। इस स्थान से एक के बाद एक दर्जनों की संख्या में प्राचीन मूर्त्तियों का मिलना आरम्भ हुआ। ये ही मूर्त्तियाँ वर्त्तमान में तारा-मंदिर के प्रांगण में विभिन्न देवताओं के नाम से पूजित हो रही हैं। पुरावेत्ताओं की राय में ये मूर्त्तियाँ विभिन्न कालों की हैं तथा भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखती हैं। इनमें जहाँ एक ओर बुद्ध और अवलोकित की मूर्त्तियाँ हैं तो दूसरी ओर यज्ञोपवीतधारी पुरोहित और सरस्वती की मूत्तियाँ भी हैं साथ ही शिवलिंग भी हैं। इन मूर्त्तियों के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण हम आगे देंगे। यहाँ कहना यह है कि प्रायः पच्चीस साल पहले इन पंक्तियों के लेखक ने अपने सहयोगियों के साथ सहज उत्सुकतावश उक्त तड़ाग-निर्माण-स्थल का अध्ययन किया था। वहाँ से एक ईंट प्राप्त हुई थी। यह ईंट उस दीवार की हो सकती है, जो इस स्थल के पूर्वी छोर से होकर गुजरती है और अब धरती के नीचे है। वह ईंट भी डॉ. फणिकान्त मिश्र के अवलोकनार्थ प्रस्तुत की गई। डॉ. मिश्र का निर्णय था कि यह ईंट गुप्तकालीन है।

एक तथ्य यहाँ और भी विचारणीय है। इसका उल्लेख 'कोशी अंचल की अनमोल धरोहरें' के लेखक हरिशंकर श्रीवास्तव 'शलभ' ने अपनी पुस्तक में किया है। वह कहते हैं कि प्राप्त सूचनानुसार बौद्ध धर्म (हीनयान) महासांघिक सम्प्रदाय के परम प्रसिद्ध नौ पीठों में से एक पीठ-बहुश्रुतीय पीठ-महिषी-परिसर में स्थापित था। यह पीठ न केवल साधना व स्वाध्याय का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, अपितु

बौद्ध-पीठों के प्रशासन का दायित्व भी निभाता था। उनके अनुसार महिषी के इस बहुश्रुतीय पीठ के प्रशासनिक नियंत्रण में सम्पूर्ण तीरभुक्ति प्रान्त के साथ-साथ पुण्ड्रवर्धनभुक्ति का भी अधिसंख्य क्षेत्र (यथा वर्त्तमान पूर्णियाँ जिला) आता था।

अस्तु, इस ओर हम ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि एक ही परिसर में मौर्यकाल, गुप्तकाल, पालकाल की पुरावस्तुएँ प्राप्त हो रही हैं तो इसका क्या अर्थ है? डेढ़ हजार वर्ष के अभ्यन्तर बिखरे हुए इतिहास के इन अध्यायों की व्याख्या किस प्रकार की जाय– इस बात की ओर मैं क्षेत्रीय इतिहास के क्षेत्र में शोध कर रहे युवा इतिहासज्ञों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ।

राजनीतिक इतिहास के सन्दर्भ में देखें तो यह परिसर मौर्यों के बाद शुंग, काण्व, आन्ध्र, कुषाण, नाग, वाकाटक आदि वंश के शासकों द्वारा भी शासित रहा। गुप्तवंश के बाद हर्षवर्धन के साम्राज्य का भी यह हिस्सा रहा। इस अवधि में क्या कुछ इस धरती पर गुजरा, इसका कोई प्रामाणिक साक्ष्य हमारे पास उपलब्ध नहीं है, और न ही इस ओर कोई सार्थक चेष्टा की जा रही है। सामाजिक प्रवृत्ति के ऐतिहासिक सन्दर्भों की दृष्टि से यदि इस मामले को देखा जाय तो प्रतीत होता है मौर्यकाल में बौद्ध धर्म अभूतपूर्व रूप से इस परिसर में छाया हुआ था। आगे, मौर्योत्तर परिवेश ने बौद्धधर्म के विकास को लगाम लगाई। ब्राह्मण धर्म के नियंतागण, जो पूर्व में खुद को उपेक्षित महसूस कर रहे थे, कालान्तर में राजनीति की मुख्यधारा में आए। इस तरह, वैदिक ब्राह्मण-धर्म को एक नई ऊर्जा मिली। किन्तु, यहाँ हमें एक बात का ध्यान रखना होगा। वैदिक-ब्राह्मण धर्म (जिसे बाद में हिन्दू धर्म कहा गया) जिस प्रकार से एक व्यवस्थित जीवन-पद्धति पर आधारित था, वैसी किसी पद्धति का विकास बौद्धधर्म नहीं कर पाया था। वर्णाश्रम-पद्धति के द्वारा ब्राह्मण-धर्म ने पूरी व्यवस्था को नियंत्रित कर लिया था। फिर, विभिन्न संस्कार होते थे, व्रत-त्योहार होते थे, नित्य-नैमित्तिक आदि विधान हुआ करते थे। विभिन्न लोकों, जन्मों, पुरुषार्थों की अवधारणा थी। भगवान बुद्ध ने बाह्याडम्बर का विरोध किया था तथा आत्म-जागरण की अवधारणा दी थी। हमें ध्यान रखना चाहिए कि हमेशा ही गिने-चुने लोग ही बौद्ध संघों में दीक्षित हुए, जो भिक्षु कहलाए। बाकी विशाल समाज अपनी पुरानी जीवन-पद्धति पर चलता रहा। ब्राह्मणधर्म के आदर्शों का खण्डन तो बुद्ध ने अवश्य किया, किन्तु उसके समानान्तर किसी नई पद्धति का निर्माण नहीं कर पाए। जब हम कहते हैं कि किसी खास कालखण्ड में समाज पर बौद्धधर्म का व्यापक प्रभाव था तो इसके मुख्य दो अर्थ हैं– एक तो यह कि बौद्ध-भिक्षुओं को तथा उनके मठ को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था और दूसरा यह कि बुद्ध ने जीव-जगत को देखने के लिए जिस वैज्ञानिक

दृष्टिकोण का प्रवर्त्तन किया था, उसे समाज ने आदरपूर्वक अपनाया था। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि समाज ने बौद्ध दृष्टिकोण को अपनाया तो अवश्य किन्तु उनकी जीवन-पद्धति, विश्वास और आदर्श पूर्ववत बने रहे। आज हम जिस तरह हिन्दू, मुसलमान आदि धर्मावलंबियों को अलग-अलग चिह्नित कर सकते हैं, इसी प्रकार कभी बौद्ध धर्मावलम्बियों की भी जमात रही हो, प्राचीन भारत के इतिहास में हमें ऐसा कोई दृष्टान्त प्राप्त नहीं होता। जीवन तो लोग ब्राह्मण-धर्म के ढर्रे का जीते थे, लेकिन साथ-साथ बौद्ध आदर्शों की भी श्रद्धा करते थे। मेरी समझ है कि भारत में बौद्ध धर्म के पतन का सबसे बड़ा कारण यही था।

अंगुत्तराप प्रदेश की स्थिति कुछ अर्थों में भिन्न थी। पहले दौर में ही इस प्रदेश का आर्यीकरण हो चुका था, इसका उल्लेख हम पहले ही कर आए हैं। यहाँ तक कि पड़ोसी प्रदेश अंग भी आर्यीकरण में पीछे था। जितनी पहले क्रिया होती है, प्रतिक्रिया भी उतनी ही पहले होती है, यह एक सामान्य नियम है। संभवतः इस वजह से भी बुद्ध का ध्यान अगुत्तराप की ओर आकृष्ट हुआ होगा। इस प्रदेश के निवासी विचारों में उदार थे जबकि यही बात विदेह प्रदेश के ब्राह्मणों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती, ऐसा प्राचीन इतिहास के अध्ययन से प्रतीत होता है। विचारों की यह उदारता आगे भी बनी रही। हम पाते हैं कि विचार, धार्मिक नेता तथा दार्शनिक एवं सत्ताधीशों के स्तर पर भले ही बौद्ध धर्म कभी उन्नति तो कभी अवनति के चक्र की भाँति घूमता रहा हो, यहाँ के निवासियों के हृदय में, उनके संस्कार में इसने अपनी एक स्थायी जगह बनाई। आज भी इसकी छाप हम इस परिसर की धर्मधारणा में तो देख ही सकते हैं, जीवन-शैली में भी पा सकते हैं।

महिषी परिसर के स्वर्णिम इतिहास का तीसरा अध्याय पालकाल (750 ई० से 1100 ई०) से जुड़ा हुआ है। यह इतिहास का सबसे देदीप्यमान पृष्ठ है। इस काल तक आते-आते महिषी एक अति प्रशस्त तीर्थ की गरिमा हासिल कर चुका था। 'तीर्थ' का सामान्य अर्थ है– वह पवित्र स्थान, जिसका सम्बन्ध किसी देवता, महापुरुष, महान घटना, पवित्र नदी आदि से हो। इसका शाब्दिक अर्थ है– नदी पार करने का स्थान। भारतीय धार्मिक विश्वास के अनुसार भवसागर पार करने का घाट ही तीर्थ होता है। भगवान बुद्ध से इस स्थान का सम्बन्ध था, जिन्हें कालान्तर में देवता की कोटि प्रदान की गई। महिषी ग्राम निवासी विद्वान श्री दयानन्द झा ने अपने एक आलेख में स-तर्क यह तथ्य निरूपित किया है कि महिषी परिसर ही वह स्थान रहा होगा जहाँ भगवान बुद्ध को विष्णु के नवम अवतार के रूप में मान्यता प्रदान की गई। दूसरे यह कि पुरावेत्ताओं की राय में तारामंदिर-प्रांगण में वर्त्तमान में अनस्थापित रूप से रखे गए शिवलिंग तारामूर्त्ति की अपेक्षा अधिक प्राचीनकालिक

हैं। इसके आधार पर पुराविद् यह मान्यता बनाते हैं कि तारा-साधना आरंभ होने के पूर्व भी महिषी एक प्रशस्त शैव-तीर्थ था। महिषी की पूर्व दिशा में धर्ममूला है। यह एक पौराणिक नदी है। अध्येताओं की राय है कि प्राचीन काल से ही इस पवित्र नदी का एक भिन्न उत्स था, जो कोशी के उत्स से पृथक था। इस तरह, 'तीर्थ' की अवधारणा जिन विशिष्टताओं की वजह से बनती है, उन सभी का अस्तित्व हम प्राचीन महिषी में पाते हैं।

महिषी का नामकरण

इस तथ्य का पहले ही प्रतिपादन किया जा चुका है कि भगवान बुद्ध के काल में इस परिसर का नाम 'महिषी' नहीं अपितु आपण था। बौद्ध ग्रन्थों में 'आपण' के साथ 'निगम' शब्द लगा हुआ मिलता है, जिसका अर्थ सामान्यत: कस्बा या नगर लगाया जाता है। इस प्रयोग से प्रतीत होता है कि उस काल में यह परिसर एक नगर के रूप में बसा हुआ था। महिषी परिसर में तथा इसके चतुर्दिक कई किलोमीटर की परिधि में आज भी दर्जनों की संख्या में बड़े-बड़े टीले पाए जाते हैं। असंभव नही कि इन टीलों के भीतर प्राचीन नगर के अवशेष दबे पड़े हों। इस दिशा में आज तक किसी अध्ययन की शुरुआत भी नही हुई है।

दूसरी ओर हम पाते हैं कि महिषी की धरती के रत्न आचार्य मण्डन मिश्र (आठवीं शताब्दी) के द्वारा रचित छह प्रकरण ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं किन्तु उनमें से किसी में भी ऐसा कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता, जिससे उनके निवास स्थान की जानकारी मिल सके। प्राचीनतम जो ग्रन्थ प्राप्त होता है, जिसमें इस स्थान के लिए 'माहिष्मती' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह आचार्य वाचस्पति मिश्र (नवम शताब्दी) की कृति 'भामती' है। दार्शनिक सन्दर्भ 'अवभास' को स्पष्ट करने के क्रम में वहाँ आचार्य वाचस्पति ने पाटलिपुत्र के साथ 'माहिष्मती' का प्रयोग दृष्टान्त के रूप में किया है। (पूर्वदृष्टस्य देवदत्तस्य परत्र माहिष्मत्याम् अवभास: समीचीन:) स्व० लक्ष्मीनाथ झा, पं० सहदेव झा आदि पारखी विद्वानों की राय है कि चूँकि पाटलिपुत्र के साथ माहिष्मती स्थान का प्रयोग किया गया है, इसलिए यह स्थान मिथिला में अवस्थित महिषी ही होना चाहिए, न कि सुदूरवर्त्ती नर्मदा-तट पर अवस्थित माहेश्वर (मध्यप्रदेश में अवस्थित प्राचीन माहिष्मती)। हम सभी जानते हैं कि आचार्य वाचस्पति मिश्र आचार्य मण्डन की परम्परा के दार्शनिक थे तथा उनके प्रति अप्रतिम श्रद्धा का उल्लेख उन्होंने अपने ग्रन्थों में किया है। इतना ही नहीं, आचार्य शंकर की कृति की टीका लिखते हुए भी जिस किसी स्थल पर मण्डन-शंकर के बीच मतान्तर का प्रसंग आता है, सदैव वे आचार्य मण्डन के मत को मण्डित करते हैं और इसके लिए आचार्य शंकर का खण्डन तक करते हैं। उनकी इस श्रद्धान्वित प्रवृत्ति के कारण भी उनके कर्म-स्थल का नामोल्लेख उन्होंने दृष्टान्त के रूप में किया हो, यह संभव माना गया है। अस्तु, आचार्य मण्डन पर अन्यत्र लिखा ही जा चुका है, अत: यहाँ दुहराया नहीं जा रहा है। (विस्तार के लिए

देखें– 'मण्डन मिश्र और उनका अद्वैत वेदान्त' लेखक–पं॰ सहदेव झा, सम्पादक–डॉ. तारानन्द वियोगी, प्रकाशक–मण्डन सन्तति, महिषी)

इस प्रकार हम पाते है कि आठवीं–नवीं शताब्दी तक आते–आते इस स्थान का नाम माहिष्मती पड़ चुका था। 'माहिष्मती' नाम से इसके वैदिक–ब्राह्मण–धर्मी रुझान का पता चलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्योत्तर काल में जब वैदिक–ब्राह्मण–धर्म ने नए सिरे से पुनरुत्थान प्राप्त किया, उसी कालखण्ड में इसका नामकरण ब्राह्मणों ने किया हो। यह तो स्पष्ट ही है कि आर्यो का यह प्राचीन युग से ही निवास था और यहाँ सदैव ही बड़ी संख्या में विद्वान, कर्मनिष्ठ ब्राह्मण रहते आ रहे थे। 'माहिष्मती' नामकरण की प्रेरणा उन्हें निश्चय ही महाभारत, भागवत, ब्रह्माण्डपुराण, वायुपुराण, विष्णुपुराण, मत्स्यपुराण आदि प्रामाणिक पुराणग्रन्थों में वर्णित प्राचीन 'माहिष्मती' से मिली होगी, जो नर्मदा तट पर अवस्थित थी, जिसे सहस्रार्जुन ने बसाया था और जहाँ परशुराम ने क्षत्रियों का सामूहिक संहार किया था। नाम–साम्य के कारण भले ही आज मण्डन मिश्र की कर्मभूमि को लेकर विवाद उपस्थित हो, किन्तु भारतीय परम्परा में हम पाते हैं कि माहात्म्यशाली तीर्थों के नाम पर स्थान के नामकरण की प्रवृत्ति सभी युगों में रही है, जैसा कि हम आज भी महानगरों के नवीन बसे हुए मुहल्लों के नामकरण के प्रसंग में देखते हैं।

एक अन्य प्रस्ताव 'माहेशी' नाम को लेकर है। यह संभावना व्यक्त की गई है कि पाल युग में ही, जबकि इस स्थान को शक्ति–तीर्थ की गरिमा हासिल हो चुकी थी, इसके महत्त्व को प्रतिपादित करता हुआ नाम 'माहेशी' इस स्थान के लिए व्यवहृत किया जाने लगा होगा। माहेशी का शाब्दिक अर्थ है– भगवान शिव (महेश) की शक्ति। हम सभी जानते हैं कि शाक्त तन्त्र के परम जाग्रत केन्द्र के रूप में महिषी हजार वर्ष से प्रशस्त रहा है। इसकी इसी विशिष्टता को दर्शाने के लिए 'माहेशी' नामकरण किया गया हो, यह संभव हो सकता है, क्योंकि तंत्र की अवधारणा में भगवती शिव से ही उत्पन्न होती हैं, व उन्हीं की शक्ति भी होती हैं। देवीपुराण (अध्याय–45) का यह उद्धरण इस प्रसंग में देखा जा सकता है–

महादेवात् समुत्पन्ना महान्तैरीक्ष्यते यतः।
माहेश्वर्या तनुर्यस्या माहेशी तेन सा स्मृता।।

पालकालीन महिषी की गाथा

महिषी में भगवती तारा की जो प्रतिमा आज हम पूजित होती देखते हैं, इसका निर्माण तथा स्थापना पालकाल में ही हुई थी। पालकालीन मूर्त्तिकला के विशेषज्ञों की राय मानें तो तारा-मूर्त्ति में जितनी कलात्मक महीनी है तथा भावनाओं का सूक्ष्म अंकन जितनी दक्षतापूर्वक किया गया है, उसके आधार पर यह मूर्त्ति उत्तर पालकालीन है। इसका विवरण हम कुछ विस्तार से आगे देंगे।

तारा, बुद्ध एवं अन्यान्य देवताओं की मूर्त्तियाँ इतनी अधिक संख्या में उपलब्ध होने से हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि यहाँ कोई विशाल मठ, साधना-केन्द्र, बौद्ध-विहार आदि रहा होगा। हमारा आकलन है कि केणिय एवं सेल ब्राह्मण के बौद्ध परिषद् का मुख्यालय यही स्थान रहा होगा, जहाँ आज तारा मंदिर का परिसर है। जैसे-जैसे बौद्ध धर्म में नवाचारों, नए सम्प्रदायों का प्रवर्त्तन होता गया, इस विहार को तदनुरूप ढाला जाता रहा। बौद्ध-संघ में विभाजन के पश्चात इस परिसर के बौद्धों ने महायान शाखा का समर्थन किया, यह स्वत: ही स्पष्ट है। महिषी इनकी गतिविधियों का एक केन्द्र पूर्ववत बना रहा। हम अवगत हैं कि वज्रयान का उदय महायान की आधारभित्ति पर हुआ था। तंत्र एक पुरानी वस्तु थी, जिसका ग्रहण 'गुह्यसमाजतंत्र' आदि ने काफी पुराने समय में ही कर लिया था। तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ ने लिखा है कि बुद्ध के महानिर्वाण के 300 वर्ष बाद ही तंत्र ने सद्धर्म में प्रवेश पा लिया था। इतिहासकारों की प्राय: आम राय है कि बौद्ध धर्म में तंत्रयान के पश्चात आनेवाले मंत्रयान-वज्रयान ने ही इसे पतन तक पहुँचाया।

अस्तु। हम पाते हैं कि पालकाल में महिषी एक धार्मिक केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध था। इसका एक प्रामाणिक साक्ष्य हमें महिषी में प्राप्त होता है। उन दिनों समाज में यह प्रथा प्रचलित थी कि जब किसी धनी-मानी व्यक्ति की कोई मनौती पूरी होती थी तो वे धर्मस्थल पर समारोहपूर्वक एक शिलापट्ट लगवाते थे, जिसमें यह श्लोक खुदा होता था-

ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत्।
तेषां च यो निरोधो एवमवादीत् महाश्रमण:॥

(धर्मों के उद्भव का 'कारण' होता है, उस कारण को तथागत ने स्पष्ट कर दिया

है तथा उसका निराकरण भी बता दिया है– ऐसा महाश्रमण का वचन है।)

यह स्पष्ट है कि उपरिलिखित श्लोक-अंकित कई-कई शिलापट्ट धर्मस्थल पर लगाए जाते रहे होंगे। इससे धर्मस्थल पर महाश्रमण की उपस्थिति प्रमाणित होती है। डॉ॰ नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी ने अपनी पुस्तक (प्राचीन भारतीय मूर्त्ति विज्ञान) में यह भी लिखा है कि यह श्लोक मूर्त्तियों की चरण-चौकियों पर तथा पृष्ठ शिलाओं पर भी उत्कीर्ण किए जाने का रिवाज था।

ज्ञात हो कि तडाग-खुदाई के समय मिली मूर्त्तियों के साथ उपर्युक्त श्लोक अंकित एक भग्न शिलापट्ट भी मिला है, जिसे आज भी मंदिर-परिसर में देखा जा सकता है।

पालकालीन बौद्ध मूर्त्तियों के सम्बन्ध में एक और महत्वपूर्ण तथ्य की ओर हम ध्यान आकृष्ट करना चाहेंगे। इससे महिषी की मूर्त्तियों की खास विशिष्टता प्रतिप्रादित हो सकेगी।

सर्वविदित तथ्य है कि इतिहास के विभिन्न कालखण्डों में ब्राह्मण धर्म तथा बौद्ध धर्म के बीच मतान्तर, विवाद तथा कटुता न केवल बरकरार रही अपितु बढ़ती भी रही। ब्राह्मण धर्मावलंबी राजाओं ने बोधिवृक्ष को कटवा डाला, बौद्धमठ ध्वस्त किए, भिक्षुओं का कत्लेआम किया। बौद्धधर्मावलंबी आचार्य तथा भिक्षु भी अपनी ओर से इस कटुता को बढ़ाते रहे। हम पाते हैं कि बौद्ध धर्म को इस्लाम धर्मावलंबी आक्रान्ताओं से जितनी क्षति पहुँची तथा जितना संघर्ष करना पड़ा, उससे थोड़ा भी कम ब्राह्मणधर्मावलंबी राजाओं से नहीं। ये ही सारे कारण रहे कि भारत की धरती से बौद्ध धर्म का उच्छेद हो गया।

बौद्धधर्म की प्राथमिक अवधारणा में ही ब्राह्मणधर्मी कर्मकाण्ड का विरोध निहित था, यह हम सभी जानते हैं। इतिहास की धारा में ऐसे भी युग आए, जब समाज की सबसे उत्कृष्ट प्रतिभाएँ बौद्ध धर्म के संरक्षण में प्रयत्नशील दिखीं। इन सबने अपने वैज्ञानिक दार्शनिक चिन्तन से बौद्ध धर्म की आधारभित्ति को मजबूत बनाने का काम किया। परवर्त्तीकाल में हम यह भी देखते हैं कि प्रतिस्पर्धावश ब्राह्मण धर्मावलंबी सर्वोत्कृष्ट प्रतिभाओं में भी बौद्ध धर्म के खण्डन की ओर रुझान बढ़ा। एक समय में तो हम मिथिला को इसका नेतृत्व करते हुए देखते हैं। भारत के जिस भूभाग में बुद्ध का महानिर्वाण हुआ था, उस पूरे परिक्षेत्र के बारे में यह जनविश्वास उत्पन्न कराया गया कि यहाँ देह त्यागने वाले कभी भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते बल्कि वे नरकगामी होते हैं। सम्राट अशोक को सर्वोत्कृष्ट बताने के अर्थ में 'देवानाम् प्रिय' कहा गया था, बाद में इस शब्द का अर्थ निर्धारित किया गया– मूर्ख। इसी प्रकार, बौद्ध-व्यवस्थानुसार कोई विचार या कर्म तीन बार कथित

किए जाएँ तो उन्हें अमोघ माना जाता है। ब्राह्मण धर्म ने इस 'तीन' की संख्या को ही अशुभ संख्या के रूप में प्रचारित किया। इस प्रकार के न जाने कितने ही तथ्य हमें सामाजिक एवं वैचारिक सन्दर्भों में मिलते हैं, जिनसे यह धार्मिक कटुता व्यंजित होती है।

इस कटुता को बढ़ावा देने में पालकालीन मूर्त्तिकला ने भी अहम भूमिका निभाई। हम जानते हैं कि पालवंश के दीर्घकालव्यापी शासन में बौद्ध, ब्राह्मण तथा जैन तीनों ही धर्मों के देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ बनीं। इससे काफी हद तक पाल शासकों की धार्मिक उदारता का भी पता चलता है। लेकिन, इससे अलग एक और खास बात पालकालीन मूर्त्ति-कला के सन्दर्भ में दीख पड़ती है। हम पाते हैं कि दोनों धर्मों के देवी-देवताओं की संयुक्त मूर्त्तियाँ भी इस काल में निर्मित की गईं। इन मूर्त्तियों में से अनेक में ब्राह्मण देवी-देवताओं को बौद्ध देवताओं के पैरों के नीचे अपमानजनक अवस्था में दिखाया गया। इनमें शिव, विष्णु, ब्रह्मा, दुर्गा आदि शीर्षस्थ देवी-देवताओं को बुद्ध या बोधिसत्वों के पैरों के नीचे दिखाया गया। उदाहरण के लिए नालंदा की खुदाई से प्राप्त पालकालीन बौद्ध मूर्त्तियों को देखा जा सकता है। कलकत्ता संग्रहालय में उपलब्ध एक मूर्त्ति में जहाँ बौद्ध देवी पर्णशबरी के पैरों के नीचे गणेश को दिखाया गया है, वहीं दूसरी ओर बोधिसत्व लोकेश्वर के पैरों के नीचे विष्णु, गरुड़ तथा सिंह को दर्शाया गया है।

हम यहाँ विनयपूर्वक इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि महिषी परिसर से प्राप्त मूर्त्तियों में ऐसी किसी धार्मिक कटुता के दर्शन नहीं होते। मेरी दृढ़ धारणा है कि इस परिसर की व्यवस्थित खुदाई करने पर जो अनेकानेक मूर्त्तियाँ प्राप्त होंगी, उनमें भी यह कटुता दिखाई नहीं पड़ेगी। इसके पीछे एक ठोस कारण है। महिषी-परिसर की परम्परा सदैव धार्मिक समन्वय की परम्परा रही। पालकाल में ही ब्राह्मण साधक बशिष्ठ ने वज्रयान में दीक्षित होकर तारा-सिद्धि प्राप्त की थी, इसका विवरण सर्वविदित है। इस घटना ने भले ही चंद पंडितों को मर्माहत किया हो, किन्तु हम देखते हैं व्यापक ब्राह्मण मतावलंबी समाज ने तारा को अपनी उद्धारकर्त्री देवी के रूप में स्वीकार किया। फिर, दूसरी ओर हम यह भी पाते हैं कि पालकाल में ही धर्ममूला-नदी तट पर प्रत्येक वर्ष विशाल धर्मसभा (कार्त्तिक पूर्णिमा को) लगती थी, और जिसके बारे में यह प्रसिद्धि है कि दोनों धर्मों के शीर्षस्थ विचारक यहाँ एकत्र होकर सामाजिक-धार्मिक-आध्यात्मिक सन्दर्भों पर विमर्श तथा निर्णय किया करते थे। अभी हाल तक यह प्रथा प्रचलित थी। इन पंक्तियों का लेखक भी इस धर्मसभा में शामिल हुआ है। प्राय: पच्चीस-तीस वर्ष पहले यह अक्सर देखा गया कि धर्मसभा में बनगाँव एवं महिषी

के पंडितों के बीच जब किसी बिन्दु पर मतान्तर हो जाया करता, तो इन दोनों के समर्थक खून-खराबा पर उतर आते थे। इसके बाद धीरे-धीरे समाज इस धर्मसभा के प्रति अन्यमनस्क हो गया। वस्तुतः मैं इस ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा कि इस धर्मसभा की मूल परिकल्पना ही ब्राह्मणधर्म तथा बौद्ध के बीच समन्वय स्थापित करने की थी।

इस समन्वय भावना की पुष्टि बनगाँव ताम्रलेख से भी होती है। 425 तोला वजन का यह ताम्रलेख 1950 ई॰ में बनगाँव ग्रामवासी पं॰ घुग्घर झा को खेत जुताई के क्रम में प्राप्त हुई थी। इसका अध्ययन डॉ॰ डी.सी. सरकार के द्वारा किया गया है। इसमें उल्लिखित है कि पालनरेश विग्रह-पाल तृतीय ने अपने राज्याभिषेक के सतरहवें वर्ष में इटाहक ग्रामवासी पं॰ घण्टुक शर्मा नामक ब्राह्मण को वासुकावर्त्त (संभवतः वर्तमान वसुदेवा) नामक ग्राम का दान किया था। और इतना ही क्यों, पाल नरेश नारायणपाल का भागलपुर ताम्रलेख इस प्रसंग में उल्लेख्य है, जिसमें राजा ने शिवभट्टारक मंदिर तथा पाशुपताचार्य परिषद् को तीरभुक्ति प्रान्त का मुकुटिका नामक ग्राम दान में दिया था। ऐसे अन्यान्य भी अनेक साक्ष्य हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध धर्मावलंबी होने के बावजूद पालशासक उत्तरोत्तर समन्वयवादी होते रहे तथा ब्राह्मण-धर्मावलंबी परिषदों तथा आचार्यों को सम्मानित-अनुदानित करते रहे।

बनगाँव ताम्रलेख से एक और भी सूचना प्राप्त होती है, जो इस परिसर के इतिहास के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण है। इसमें अंकित है कि यह ताम्रलेख पालशासक के कंचनपुर जयस्कन्धावार से प्रसारित किया गया है। जयस्कन्धावार वस्तुतः अस्थायी राजधानी हुआ करती थी, जो स्वभावतः ही शासन-सूत्र का एक उपकेन्द्र होता था। डॉ॰ आर.आर. दिवाकर ने 'बिहार थ्रू द एजेज' में भी कंचनपुर को विग्रहपाल तृतीय की उप-राजधानी के रूप में चिह्नित किया है। डॉ॰ राधाकृष्ण चौधरी तथा पी. सी. रायचौधरी (सहरसा जिला गजेटियर के सम्पादक) के द्वारा प्राचीन कंचनपुर की पहचान वर्त्तमान कन्दाहा ग्राम के रूप में की गई है। कहना न होगा कि कन्दाहा महिषी-परिक्षेत्र का ही एक प्राचीन ग्राम है, जहाँ भवादित्य नामक सूर्यमंदिर अवस्थित है, और जहाँ ओइनवार नरेश नरसिंह देव की विरुदावली अंकित है। इससे यह भी सूचना मिलती है कि मुस्लिम आक्रान्ताओं से बचाव के दृष्टिकोण से ओइनवार शासकों ने भी यहाँ अपनी अस्थायी राजधानी स्थापित की थी।

इस प्रकार, हम इस संभावना तक पहुँच सकते हैं कि गोरहो घाट के धर्ममूला-तट पर कार्त्तिक पूर्णिमा को लगनेवाली धर्म सभा में स्वयं राजा भी उपस्थित रहा करता होगा। ऐसे समय में ही इस धर्मसभा का आयोजन निर्णीत किया

गया होगा जब सम्राट को अपनी अस्थायी राजधानी कंचनपुर में रहना निर्धारित रहता था। किस पालशासक के समय कंचनपुर को उपराजधानी के रूप में बसाया गया तथा किस शासक ने धर्मसभा का आयोजन आरंभ किया, यह अन्धकार के गर्त्त में है। कालप्रेरणावश यदि कभी इस परिसर की खुदाई हुई तो संभव है, इस रहस्य पर से भी परदा उठ सकेगा।

धार्मिक दर्शन एवं सिद्ध परम्परा

पालकाल की धार्मिक अवस्था एक संक्रमण के दौर से गुजर रही थी, इस विषय में विद्वानों ने प्रभूत रूप से लेखन किया है। स्वयं बौद्धधर्म सैद्धान्तिक रूप से धीरे-धीरे ब्राह्मण धर्म के निकट से निकटतर आ रहा था। शून्यवाद के स्थान पर योगाचार तथा विज्ञानवाद न केवल फल-फूल रहा था अपितु बड़े पैमाने पर ब्राह्मण धर्म के व्यावहारिक पक्षों को आत्मसात करता जा रहा था। ब्राह्मणधर्म में भी एक ओर जहाँ वर्णाश्रम की दीवार टूट रही थी, वहीं दूसरी ओर श्रद्धालु जनता में कट्टरता के स्थान पर सर्वधर्म-समभाव और लोकाचारगत उदारता आ रही थी। अद्वैत दर्शन एक ऐसा केन्द्र बिन्दु होकर उभर रहा था, जिसके पास बौद्ध दार्शनिक भी पहुँच चुके थे, इधर वेदान्ती और मीमांसक भी पहुँच रहे थे।

इस काल की धार्मिक प्रवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य में महिषी की अस्मिता पर विचार करें तो हम पाते हैं कि इसने एक निर्णायक स्थल की स्थिति हासिल कर ली थी।

पालशासन के आरंभिक दिनों में ही इस धरती पर आचार्य मण्डन मिश्र अवतरित हुए। उनके बारे में सूचना मिलती है कि वह कुमारिल भट्ट के शिष्य थे। ब्राह्मण-धर्म के इतिहास में कुमारिल भट्ट की ऐतिहासिक प्रतिष्ठा इस बात को लेकर है बौद्ध मत का खण्डन करने वाले दार्शनिकों में वह अग्रगण्य हैं। उनसे पहले एकमात्र जिस दार्शनिक ने बौद्धमत का खण्डन किया था, वह शबरस्वामी थे। प्राप्त विवरणानुसार कुमारिल भट्ट के दो प्रमुख शिष्य प्रभाकर तथा मण्डन मिश्र थे। प्रभाकर के लेखन में भी हम बौद्ध मतों पर करारा प्रहार करने की प्रवृत्ति पाते हैं। लेकिन, बिल्कुल यही बात आचार्य मण्डन के बारे में नहीं कही जा सकती।

आमतौर पर आचार्य मण्डन को मीमांसक माना जाता है। कहना न होगा कि यह अर्द्धसत्य मात्र है। बल्कि 'अर्द्ध' से भी कुछ कम ही सत्य है क्योंकि उनके लेखन में हम पाते हैं कि मीमांसा दर्शन की सीमाओं को तोड़ने के लिए तथा अद्वैत वेदान्त के साथ उसके युक्तियुक्त सम्बन्ध-स्थापन के लिए ही उन्होंने मीमांसा विषयक प्रकरण ग्रन्थों की रचना की। उनके सम्पूर्ण लेखन के रुझान एवं मूल स्थापनाओं के अवलोकन से यह स्पष्ट पता चलता है कि वह मूलतः एक अद्वैत वेदान्ती थे, न कि कोरे मीमांसक, जैसा कि उन्हें दुर्भावनावश या अज्ञानतावश माना जाता रहा है। 'मण्डन मिश्र और उनका अद्वैत वेदान्त' (लेखक पं० सहदेव झा,

सम्पादक-तारानन्द वियोगी) पुस्तक में इन तथ्यों की विस्तार से विवेचना की जा चुकी है। हम पाते हैं कि आचार्य शंकर यदि अद्वैत वेदान्ती थे, तो आचार्य मण्डन भी अद्वैत वेदान्ती ही थे। उनका सम्प्रदाय अलग था और वे अद्वैत सिद्धान्त के मिथिला-स्कूल का प्रतिनिधित्व करते थे।

पालकालीन भारत में बौद्ध धर्म वज्रयान के रास्ते चल रहा था, इसकी चर्चा हो चुकी है। बज्रयान के अनुसार, 'अन्तिम तत्त्व', जिसे आधुनिक शब्दावली में 'परम सत्ता' कहा जाए—अच्छेद्य, अभेद्य, अदाही तथा अविनाशी होता है। इसे ही उन्होंने 'वज्र' का नाम दिया। इस काल में भारत के विभिन्न भागों में साधनारत 84 सिद्ध हुए, जिन्होंने यान को ठोस दार्शनिक भित्ति भी प्रदान की तथा उसे लोकव्यापी भी बनाया। इन सिद्धों ने सहजयान का प्रवर्त्तन किया, जो मध्यकालीन भारतीय सन्त साहित्य की आधारशिला है। कहना न होगा कि महासुखवादी इस धर्मधारणा में तन्त्र ही आधार-उपकरण था।

हम देखते हैं कि 84 सिद्धों में प्रमुख सरहपाद, आचार्य शंकर के समकालीन थे। जिन दिनों आचार्य शंकर शारीरकभाष्य की रचना कर रहे थे, ठीक उन्हीं दिनों इधर पाल नरेश धर्मपाल की आज्ञा से एक अन्य बौद्ध दार्शनिक हरिभद्र 'अष्ट साहस्रिका पारमिता' की युगानुरूप सुबोध टीका कर रहे थे। यही काल था जब आचार्य मण्डन मिश्र 'विधिविवेक' और 'ब्रह्मसिद्धि' की रचना-प्रक्रिया से गुजर रहे थे।

उपर्युक्त सन्दर्भों के द्वारा मैं इस ओर संकेत करना चाहता हूँ कि भारतीय धर्मचर्या के इतिहास में पहली सहस्राब्दी के अन्तिम चौथाई का समय एक ऐसा कालखण्ड था जब अद्वैत वेदान्त निर्विवाद धर्मधारणा के रूप में उभरकर सामने आ रहा था। एक ओर जहाँ ब्राह्मणविरोधी बौद्धधर्म योगाचार के रास्ते अद्वैत के पास पहुँच गया था तो दूसरी ओर ब्राह्मणवादी कर्मकाण्ड का विरोध करने के कारण स्वयं आचार्य शंकर की निन्दा मीमांसकों ने 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहकर करनी शुरू कर दी थी। आचार्य मण्डन मिश्र ने अद्वैत को सर्वोपरि दर्जा देते हुए ज्ञानकर्म-समुच्चय की अवधारणा स्थापित की थी, जिसमें यह कहा गया था कि कर्मकाण्ड, अन्तिम सत्य को पाने का उपाय नहीं हो सकता, हाँ, साधक यदि 'ज्ञान' के सही रास्ते पर आगे बढ़ रहा हो तो उसे सहायता अवश्य पहुँचा सकता है।

वज्रयानी सिद्धान्तकारों ने शून्यवादी सिद्धान्त के विपरीत परम सत्य की प्रतीति को भावात्मक माना था। दूसरी ओर, हम स्पष्ट देख सकते हैं कि ब्रह्मसिद्धिकार मण्डन मिश्र भी इसे भावात्मक ही मानते हैं, (इसीलिए उनके अद्वैत वेदान्त को 'भावाद्वैत' की संज्ञा दी गई) जबकि आचार्य शंकर इसे 'भावाभाव विवर्जित' कहते हैं।

मैं इस ओर संकेत करना चाहता हूँ कि यह समन्वय एक युगीन आवश्यकता था, जो युगध्वनि बनकर सभी ओर से प्रतिध्वनित हो रहा था। इस युगध्वनि को रूपाकार प्रदान करने का कार्य किसी समन्वयधर्मी केन्द्र पर ही हो सकता था। ऐसा ही एक केन्द्र महिषी था। यह असंभव नहीं लगता कि इसी भूमि से भगवान बुद्ध को नवम अवतार के रूप में स्वीकार करने का प्रस्ताव घोषित हुआ हो। दूसरी दृष्टि से देखें तो विशालकाय ब्राह्मणधर्म के द्वारा यह बौद्ध धर्म को पचा डालने की घटना थी। जो भी हो, इतना तो तय है कि कालपरिस्थितिवश इसकी पूर्व पीठिका स्वयं बौद्ध धर्म ने ही तैयार की थी।

परम प्रसिद्ध 84 सिद्धों में से आठ इसी परिक्षेत्र के निवासी थे, इसकी सूचना विभिन्न स्रोतों से प्राप्त होती है। इनका मुख्यालय विक्रमशिला विश्वविद्यालय था। विक्रमशिला के परम प्रसिद्ध आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान अतिश के बारे में यह एक सुविदित तथ्य है कि वह तत्कालीन 108 बौद्धमठों के सर्वोच्च प्रशासक थे। उन्हीं के प्रशासनाधीन महिषी का वह बौद्ध मठ भी रहा होगा, जिसने बहुश्रुतीय परम्परा के उपरान्त यहाँ अपनी जगह बनाई थी।

वज्रयानी सिद्धों का समाज में बहुत आदर था। विभिन्न स्रोतों से हमें इस तथ्य की सूचना मिलती है। इन सिद्धों की जीवनचर्या ठीक वैसी ही थी, जैसी कि हम तारा-साधना के प्रसंग में चीनाचार तंत्र के द्वारा अनुमोदित पाते हैं। यानी कि इस संसार में न कुछ पुण्य है न पाप है, कुछ भी अखाद्य-अभोग्य नहीं, कोई भी देश-काल-पात्र अशुभ-अनुपयुक्त नहीं। हठयोग इनकी साधना का एक प्रमुख अंग था। सभी सिद्धों में हम कुछ-न-कुछ अद्‌भुतता देखते हैं, जिसे बेढंगापन भी कहा जा सकता है। वे लोकभाषा में गीत रचते थे, जिनमें उनका आध्यात्मिक संदेश गुँथा रहता था। उन्होंने साधना-पथ की जटिलताओं के सम्बन्ध में अपने दार्शनिक अनुभव भी ग्रन्थ के रूप में लिखे थे, जिसका मूल रूप तो अब उपलब्ध नहीं है लेकिन तिब्बती अनुवाद के आधार पर तैयार किया हुआ पाठ प्राप्त होता है। आधुनिक भारतीय भाषा साहित्य का विकास उसी आधारशिला पर हुआ है, जो उनके द्वारा रचित गीतों एवं दोहों के रूप में हमें प्राप्त होते हैं। इन्हें 'सिद्ध साहित्य' कहा जाता है।

इन सिद्धों का महिषी-पीठ में आना-जाना होता था, या वे अवसरानुसार इस परिसर के भ्रमण पर निकलते थे, इसका कोई साक्ष्य हमें उपलब्ध नहीं है। यह आकलन केवल इस आधार पर प्रस्तुत किया गया है कि इन सिद्धों की पहचान महापंडित राहुल सांकृत्यायन एवं अन्य विद्वानों के द्वारा भागलपुर जिले के निवासी के रूप में की गई है। जब उन्होंने यह पहचान की थी, महिषी भी भागलपुर जिले

का ही एक भाग था। महिषी से इनके सम्पर्कित होने की संभावना इस आधार पर प्रभावकारी बनती है कि यहाँ ऐतिहासिक बौद्ध मठ था, बुद्ध के आगमन के कारण यह स्थान ऐतिहासिक महत्त्व रखता था, यहाँ समन्वय की जोरदार परम्परा थी, और बौद्ध सिद्धों के प्रति समाज में पर्याप्त श्रद्धा का भाव पाया जाता था।

अस्तु, यहाँ हम इन सिद्धों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हैं-

(1) **जयनंदीपा** : इनका एक अन्य नाम जयानन्द पा भी था। जाति के ब्राह्मण थे। यह संकेत मिलता है कि भंगल प्रदेश के किसी राजा के मंत्री रह चुके थे। सिद्ध साहित्य में इनका आदरणीय स्थान है। इनके द्वारा रचित दो ग्रन्थों का अनुवाद प्राप्त है। चर्यागीतों में इनका एक पद प्राप्त होता है, जो निम्नलिखित है-

पेखु सुअणे अदशे जइसा।
अन्तराले मोह तइसा।।
मोहविमुक्का जइ मणा।
तबेँ तुटइ अवणागमणा।।
न उ दाढ़इ न उ तिमइ न च्छिजइ।
पेख लोअ मोह बलि बलि बाझइ।।
छाआ माआ काअ समाणा।
बेणि पाखेँ सोइ बिणाणा।।
चिअ तथता स्वभावे षोहइ।
भणइ जअनन्दि फुड़ण ण होइ।।

(अर्थ- देखो, जिस तरह स्वप्न में या दर्पण में प्रतिबिम्ब ही वास्तविक प्रतीत होता है, ठीक उसी प्रकार इस दुनिया का मोह है, जो वास्तविक कदापि नहीं है। जिस दिन तुम्हारा मन इस मोह से मुक्त हो जाएगा, उसी दिन तुम्हारा जन्म-मृत्यु-बन्धन टूट जाएगा। आत्मा तो अजर-अमर है वह न जल सकती है, न भींग सकती है, न उसे छेदा जा सकता है। लेकिन देखो, लोग अपने मोह के कारण इसके स्वरूप से अनजान बने हुए हैं और बार-बार उसी में जाकर फँस रहे हैं। छाया(शक्ति) माया(बंधन) और काया वस्तुतः एक ही है, किन्तु भिन्नता प्रतीत होती है। विज्ञान तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि तीनों एक ही शक्ति के विविध रूप हैं। जयनन्दीपाद कहते हैं- मेरा चित्त तो अब 'तथता-स्वभाव' को पा चुका है, मैं क्या बोलूँ कुछ सूझ नहीं रहा है अर्थात् आनन्दमग्नता की स्थिति है, जिसका बयान शब्दों में नहीं किया जा सकता।)

(2) **धामपा** : इनका अपर नाम धर्मपा था। जाति के ब्राह्मण थे। सुप्रसिद्ध

सिद्ध कान्हपा और जालन्धरपा के शिष्य थे। इनके द्वारा रचित एक ग्रन्थ 'कालिभावनामार्ग' है। इनकी विचित्रता यह थी कि सदा धर्मोपदेश करते रहते थे। कभी किसी ने इन्हें चुप बैठे हुए नहीं देखा था। इनका सिर घुटा हुआ रहता था और कानों तक ढलनेवाली टोपी लगाए रहते थे। चर्यापद में इनके द्वारा रचा हुआ एक पद भी प्राप्त होता है, जो निम्नलिखित है–

कमल कुलिश माझें भइअ मिलली।
समताजोगें जलिअ चण्डाली।।
डाह डोम्बीघरे लागेलि आणी।
ससहर लइ सिंचहुं पाणी।।
न उ खर जाला धूम न दिशइ।
मेरुशिखर लइ गअण पइसइ।।
दाढ़इ हरिहर ब्राह्म भड़ा।
फीटा हइ नवगुण शासन पड़ा।।
भणइ धाम फुड़ लेहु रे जाणी।
पंच नालें उठे गेल पाणी।।

(अर्थ– कुलिश कमल के भीतर जाकर मिल गया। (इसका सामान्य अर्थ है– योनि (पद्म) के भीतर जाकर लिंग (वज्र) मिला किन्तु असली अर्थ है– शिव और शक्ति के बीच मिलन हुआ।)इन दोनों का मिलन देखकर चाण्डाली (कुण्डलिनी) जल उठी (जाग्रत हो गई)। उसका घर, यह पंच भौतिक शरीर उस आग में जलकर राख हो गया। अर्थात् समस्त वासनाएँ विलीन हो गईं। उसकी ज्वाला शान्त हुई कैसे? शरीर के भीतर ही अवस्थित चन्द्रमण्डल के जल से। अब वह ज्वाला प्रखर नहीं रही, न अब दिशाओं में धुआँ फैलता है। वह प्राणशक्ति तो अब मेरुशिखर पर आश्रित होकर शून्यगगन में प्रविष्ट हो गई। अब तो उस शक्ति के तेज से हरि–हर–ब्रह्मा आदि देवतागण दग्ध हो चुके हैं (तात्पर्य है कि मूत्रशुक्र–विष्ठा–नाड़ी आदि के भेदभाव समाप्त हो चुके हैं, अब परमसत्ता की उपलब्धि हो चुकी है) नौ गुणों के शासन–पट अब फट चुके हैं। धाम कहते हैं– हे योगी, साफ–साफ जान लो, इन पाँच नहरों से होता हुआ अद्वैत का जल प्रवाहित होता है।

(3) **मेकोपा :** जाति के बनिया थे।अनंगवज्र तथा कम्बलपा के शिष्य। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ 'चित्तचैतन्य शमनोपाय' है।

(4) **चेलुकपा :** जाति के शूद्र थे। अवधूतीपा के प्रमुख शिष्यों में से एक। इनके द्वारा रचित कृति 'षडङ्गयोगोपदेश' है। ये हमेशा एक हाथ में त्रिशूल तथा

दूसरे में खप्पर धारण किए रहते थे। आभूषण पहनने के शौकीन भी थे।

(5) **लुचिकपा** : भंगल प्रदेश के निवासी ब्राह्मण थे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ 'चण्डालिका बिन्दु प्रस्फुरण' है। ये अधोवस्त्र नहीं पहनते थे और कपड़े से समूचे शरीर को ढँके रहते थे। इनकी एक और विचित्रता थी। कहते हैं कि कभी किसी ने इन्हें बैठे हुए या सोते हुए नहीं देखा। हमेशा खड़े रहते या चलते रहते थे। इनका आसन भी विचित्र था। हमेशा सिर पर दोनों हाथ बाँधे रहते थे।

(6) **चम्पकपा** : ये मीनपा के गुरु थे, ऐसी सूचना मिलती है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ 'आत्मपरिज्ञानदृष्ट्युपदेश' है। इनकी विचित्रता यह थी कि हमेशा चम्पा फूल की एक टहनी अपने हाथ में धारण किए रहते, जो फूलों से लदा होता था। जहाँ भी कहीं आसन लगाते, टहनी को जमीन में गाड़ लेते थे।

(7) **चर्पटीपा** : इनका प्रसिद्ध नाम पचरीपा था। कहार जाति के थे। मीनपा के ये भी गुरु बताए जाते हैं। इनकी लिखी पुस्तक 'चतुर्भूत-भवाभिवासन कर्म' है। विचित्रता यह थी कि एक बैल रखते थे, उसी को हमेशा चराते, उसी की पूजा करते, और कहीं आना-जाना होता था तो उसी की संवारी करते थे।

(8) **पुतलीपा** : जाति के शूद्र थे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ 'बोधिचित्त वायुचरण भावनोपाय' है। विचित्रता यह थी कि हमेशा पीपल वृक्ष के नीचे बैठकर भगवान बुद्ध की पुतली की पूजा करते रहते थे।

महिषी में प्राप्त मूर्त्तियों की विशिष्टता

महिषी की तारामूर्त्ति के सम्बन्ध में जो सूचना आज भी यत्र-कुत्र उपलब्ध है, वह एकमात्र सहरसा जिला गजेटियर (1965, सं. पी.सी. राय चौधरी) पर आधारित है। मूर्त्तिकला विशारदों ने अपनी पुस्तकों एवं लेखों में तारा के सम्बन्ध में जो कुछ भी लेखन किया है, वह अधिकतर संग्रहालयों में प्रदर्शित मूर्त्तियों के अध्ययन पर आधारित है। 'तारा इन हिन्दुइज्म' ग्रन्थ के लेखक विकास कुमार भट्टाचार्य ने अपनी पुस्तक में भारत एवं विश्व के अनेक स्थानों पर सुलभ रूप से उपलब्ध तारा-प्रतिमाओं का एक सुविस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। इस विवरण के अनुसार आज 370 स्थलों पर विभिन्न रूपों में तारा की प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं। भारत के विभिन्न प्रान्तों में तारा-प्रतिमा की उपलब्धता की स्थिति निम्न प्रकार है–
(1) आसाम-13 (2)बंगाल-27 (3) बिहार-59 (4) मध्यप्रदेश-7 (5) उड़ीसा-44 (6)पंजाब-2 (7) उत्तरप्रदेश-19 (8) हिमाचलप्रदेश-5 (9) कर्णाटक-1 (10)जम्मूकश्मीर-2(11)महाराष्ट्र-25 (12)तमिलनाडु-1 (13) अन्यान्य (भारत)-5 (14) इनके अतिरिक्त बंगलादेश-23, वर्मा-1, चीन-5, फ्रांस-2, इंडोनेशिया-2, कंपूचिया-1, नेपाल-14, श्रीलंका-3, तिब्बत-6 की संख्या में तारा प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं। इस 370 की संख्या में महिषी की तारा-प्रतिमा की भी गणना की गई है।

उपर्युक्त आँकड़े में हम स्पष्ट देख सकते हैं कि विश्व स्तर पर तारा प्रतिमा की उपलब्धता बिहार में सर्वाधिक है। इसके पीछे प्रधान कारण है वज्रयान के मुख्यालय का बिहार में केन्द्रित होना। हम स्पष्ट देख सकते हैं कि विश्व भर में जहाँ भी कहीं तारा-साधना की ज्योति पहुँची, वह पालकालीन बिहार से ही प्रसारित हुई।

लेकिन दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि इस बिहार में आज महिषी ही एकमात्र स्थल है, जहाँ तारा आज भी मन्दिर में स्थापित हैं तथा पूजा-साधना का क्रम जारी है। साकांक्ष होकर देखें तो इस दृष्टान्त के द्वारा हम इस स्थान के समन्वयवादी इतिहास की तह में प्रवेश कर सकते हैं। वज्रयान तो इस धरती से समाप्त हो गया, यहाँ तक कि बौद्ध धर्म भी नहीं बचा, लेकिन उनकी तारा समय की धारा में अपनी प्रासंगिकता सिद्ध करते हुए आज भी विद्यमान हैं।

अस्तु। सहरसा जिला गजेटियर के संपादक ने महिषी के गौरवपूर्ण इतिहास

की झलक उक्त पुस्तक में एकाधिक स्थलों पर दिखाई है। खास तौर पर इसकी तांत्रिक पृष्ठभमि से वह परिचित थे, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। उन्होंने तारामूर्ति का भी अपने तरह से विश्लेषण किया और यह स्पष्ट रूप से अंकित किया कि उपलब्ध मूर्त्ति खदिरवनी तारा की है। अपनी टिप्पणी में उन्होंने इस विरोधाभास की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है कि ध्यान-मंत्र तो उग्रस्वरूपा तारा का प्रचलित है, जबकि पूजा सौम्यस्वरूपा की की जाती है।

खदिरवन कहते हैं– खैर (कत्था) के जंगल को। इसकी लकड़ी से कत्था निकलता है। खैर का वृक्ष झाड़ीनुमा होता है और काँटों से भरा रहता है। महिषी-परिसर से जंगल का खात्मा तो कब का हो चुका, कोशी की धारा ने बचा-खुचा भी चट कर डाला। लेकिन आज भी हम देखते हैं कि जहाँ-तहाँ खैर की झाड़ी खड़ी मिल जाती है और अवांछित रूप से भी लोगों के बगीचों में इसकी झाड़ी उग आती हैं। मध्यकालीन तांत्रिक साधना में इस खदिरवन का और खदिरवनी तारा का कैसा विशिष्ट महत्त्व था, इसकी झलक हमें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'चारु चन्द्रलेख' में दिखाई पड़ती है।

महाचीन (तिब्बत) की परम्परा के अनुसार सर्वप्रमुख 21 ताराओं में खदिरवनी तारा का स्थान 9वाँ है। ये हरित तारा समूह की देवी हैं। इनकी सहयोगी देवियाँ एकजटा तथा मारीचि हैं। इनका रंग हरा, विहित दिशा उत्तर तथा प्रातिनिधिक तत्त्व पृथ्वी हैं। पृथ्वी की नियंत्री शक्ति के रूप में तारा का जो भी विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसे वस्तुतः हरित तारा का ही माहात्म्य समझा जाना चाहिए। इनके ध्यानी बुद्ध अमोघसिद्धि हैं, बोधिसत्व विश्वपाणि तथा मानुषी बुद्ध मैत्रेय हैं। इनकी मुद्रा अभय मुद्रा विहित की गई है।

यह गौरतलब है कि तारा-साधना की व्यापकता के कारण उनके इतने सारे रूप, रंग तथा प्रभेद विकसित हुए कि एक-दूसरे के साथ अन्तर कर पाना कई बार कठिन होता है। तारा के कुल प्रभेद 100 से अधिक हैं। इन मूत्तियों में उत्कीर्ण पृष्ठभूमि तथा सहयोगी देवियों के साहचर्य के आधार पर ही प्रभेद निर्धारण करना संभव होता है।

ध्यान रखने की बात है कि पालकालीन मूर्त्तियाँ मूलतः साधना के उद्देश्य से बनाई जाती थीं इसलिए शास्त्र में निर्धारित स्वरूप के अनुसार इनका उत्कीर्णन परम आवश्यक माना जाता था। आज की तरह मूर्त्तिकारों को अपनी कल्पनाशीलता को उड़ान देना तब कतई संभव नहीं था। हरित तारा का स्वरूप-निर्धारण 'साधन-माला' में किया गया है, जहाँ उनके नौ स्वरूप वर्णित किए गए हैं– खदिरवनी, वश्य, आर्य, महत्तरी, वरद, दुर्गोत्तारिणी, धनद, जांगुली तथा पर्णशबरी।

कहना न होगा कि इनमें खदिरवनी सर्वप्रधान हैं। इन्हें पद्म पर विराजमान तथा द्विभुजा बताया गया है। इनके एक हाथ में कमलपुष्प तथा दूसरे हाथ को अभय या वरद मुद्रा में दिखाया गया है। इनका मुखमंडल सौम्य दर्शित करने का विधान किया गया है, जबकि इनकी सहयोगी देवियों में से एकजटा को रौद्र तथा मारीचि को सौम्य दिखाया गया है।

महिषी में अवस्थित तारा की प्रतिमा अत्यन्त सौम्य रूप में हैं। वे कमल-पुष्प पर आसीन हैं। इकहरा शरीर है किन्तु देहयष्टि सुपुष्ट है। उनका मुँह किंचित् लंबाई लिए गोल है। आँखें नत हैं। मुखमंडल पर अप्रतिम करुणा का भाव दिखाया गया है, ध्यान में डूबी हुई-सी प्रतीत होती हैं। मुखमंडल पर इतनी सौम्यता है कि कोई ध्यानपूर्वक थोड़ी देर तक उन पर दृष्टि टिकाए तो ध्यानस्थ-आत्मस्थ हो सकता है। उनकी मुद्रा में गतिमयता है। देहयष्टि के तिर्यक् होने से यह स्पष्ट भासित होता है। उनके दोनों ओर कमल-पुष्प उत्कीर्ण हैं, बायें कमल का नाल नीचे तक आया है। चूँकि उनके दोनों हाथ भग्न हैं, अतः हाथों की मुद्रा स्पष्ट नहीं है। कमल-नाल की अवस्थिति से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसे उन्होंने अपने बायें हाथ में धारण किया हुआ है। सिर पर रत्नों का मुकुट है, जो भासित हो रहा है। मुकुट के ऊपर ध्यानी बुद्ध (विधान के अनुसार अमोघसिद्धि किन्तु लोक प्रसिद्धि के अनुसार अक्षोभ्य) उत्कीर्ण हैं। खदिरवनी तारा को विभिन्न वन्य कुसुमों से आभूषित उत्कीर्ण किया जाना शास्त्रविहित है। मूर्त्ति के ऊपरी भाग में ऐसे अनेक संकेत हैं, जिनसे स्पष्ट भाषित होता है कि उन्हें वन्य कुसुमों से सजाया गया है। फल की आकृति का एक विशिष्ट पुष्प भी उनकी दायीं ओर उकेरा गया है। यह पद्म फल (बरड़ी)है। उन्होंने गले में कई-कई आभूषण धारण किए हुए हैं। एक हार तो स्तन तक लटकता है। उन्होंने पारदर्शी वस्त्र धारण किया हुआ है जो मध्य भाग में दुहरा आवरण बनाता है। नीचे बायीं ओर एकजटा देवी हैं। उनका रूप उग्र है। उनकी देहयष्टि दोहरी है। आँखें नत हैं तथा हाथ एवं पूरा शरीर गतिशील अवस्था को द्योतित करता है। उनका उदर उन्नत है। उन्होंने भी मुकुट धारण किया हुआ है। उनका भी दायाँ हाथ वरद मुद्रा में है। तारा के नीचे दायीं ओर भी एक देवी हैं। शास्त्रोक्त विधान के अनुसार ये देवी मारीचि हैं। 'साधनामाला' में मारीचि के स्वरूप का जैसा निर्देश किया गया है, ठीक-ठीक वैसी ही उत्कीर्ण हैं। लोक परम्परा में इन्हें नील सरस्वती कहा जाता है। ब्राह्मण-धर्म में तारा-साधना को स्वीकार किए जाने के पश्चात् नीलसरस्वती पर पृथक से तंत्र भी रचित है। इस देवी की देहयष्टि इकहरी है। आकृति सौम्य है। यह मूर्त्ति भी गतिशील मुद्रा में हैं, दाहिनी ओर किंचित झुकी हुई। दायाँ हाथ वरदमुद्रा में है। मूर्त्ति-मंडल के समूचे

फलक को इस तरह उकेरा गया है, जिससे प्राकृतिक सुषमा की झलक दीखती है।

जैसा कि पालकालीन मूर्त्तिकला की एक सामान्य विशेषता थी, इस मूर्त्ति को एक मुलायम पाषाण-शिला पर समेकित रूप से उत्कीर्ण किया गया है। प्रस्तर की मृदुता का ही नतीजा है कि अत्यन्त सूक्ष्म भाव तक मूर्त्ति में उकेरा जा सका है।

महिषी-परिसर में भगवान बुद्ध की तीन मूर्त्तियाँ अब तक पाई गई हैं, ये मूर्त्तियाँ क्रमशः भूमिस्पर्शमुद्रा, महानिर्वाणमुद्रा तथा ध्यानमुद्रा में हैं। भूमिस्पर्शमुद्रा वाली मूर्त्ति को अतिविशिष्ट मानते हुए 35 वर्ष पहले इसे तारास्थान-परिसर से पटना संग्रहालय को हस्तान्तरित किया गया। अब सहरसा में कारू संग्रहालय की स्थापना के बाद इसे सहरसा में प्रदर्शित किया गया है। यह मूर्त्ति 1950 के दशक में महिषी के मनुआँ नदी से प्राप्त हुई थी। मूर्त्तिकला विशारदों की राय में यह मूर्त्ति तारा-मूर्त्ति से अधिक प्राचीन है। विशेषज्ञों का कहना है कि खदिरवनी तारा की मूर्त्ति का उत्कीर्णन नवीं शताब्दी के बाद ही आरंभ हुआ और दसवीं सदी के अन्त से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक इसका भरपूर विकास हुआ। जबकि इस बुद्धमूर्त्ति के सम्बन्ध में विशेषज्ञ (यथा चित्तरंजन प्रसाद सिन्हा) कहते हैं कि यह मूर्त्ति तब की है, जब बौद्ध मूर्त्ति-कला में तंत्र का प्रवेश भी नहीं हुआ था। प्रतीत होता है कि पालशासन के आरंभिक वर्षों में ही इस मूर्त्ति का निर्माण किया गया होगा। शास्त्रोक्त विधान के अनुरूप ही इस मूर्त्ति में भगवान बुद्ध को पलथी मारकर बैठे हुए दिखाया गया है। उनका बायाँ हाथ गोद में है, जबकि दायें हाथ की खुली हुई अँगुलियों से वह भूमि का स्पर्श कर रहे हैं। यहाँ जिस आसन (चौकी) पर उन्हें बैठे हुए दिखाया गया है, उसके नीचे बीच में दो हाथी उत्कीर्ण किए गए हैं। यही इस मूर्त्ति की अनोखी विशिष्टता बताई जाती है। बुद्ध के दोनों ओर दो सिंह भी उत्कीर्ण हैं, जो प्रतीकात्मक हैं तथा अपनी विलक्षणता द्योतित करते हैं। इस मूर्त्ति में बुद्ध के बायें कंधे पर उत्तरीय रखा हुआ दिखाया गया है, ऐसा भी कम ही प्रस्तर-मूर्त्तियों में देखा गया है।

बुद्ध के महानिर्वाण मुद्रा की एक मूर्त्ति तारामंदिर के गर्भगृह के बाहरवाले हिस्से में स्थापित है। इस मूर्त्ति की पूजा भैरव के रूप में हो रही है। मूर्त्ति छोटी (1फीट 10 ईंच की)है किन्तु भावों का प्रदर्शन अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्वक करने में समर्थ है। शास्त्रीय विधान के अनुरूप ही इस मूर्त्ति में बुद्ध को शय्या पर लेटे हुए दिखाया गया है। अपना दायां हाथ उन्होंने सिरहाने लिया हुआ है। दायीं करवट लेटे हुए इसी मुद्रा में उन्होंने महानिर्वाण प्राप्त किया था। इस मूर्त्ति के नीचे तीन

आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, तीनों का सिर बुद्ध की शय्या से लगा हुआ है। बीचवाली आकृति का दोनों हाथ भी ऊपर की ओर टेक लगाए हुए है जैसे कि उन्हें टिका रखा हो। पहली मूर्त्ति का एक हाथ सिर पर तथा दूसरा छाती पर है। दूसरी मूर्त्ति का एक हाथ अपने सिर पर तथा दूसरा हाथ गोद में है। ये मूर्त्तियाँ पृथ्वी तथा मातृशक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं, जो एक ओर तो बुद्ध के वियोग से होनेवाले दुःख को प्रकट कर रही हैं वहीं दूसरी ओर सम्पूर्ण शक्ति लगाकर उन्हें ऊपर उठा रही हैं।

भगवान बुद्ध की तीसरी मूर्त्ति ध्यानमुद्रा में है, जिसे तारामन्दिर परिसर के शीतला मंदिर में स्थापित किया गया है। शास्त्रोक्त विधान के अनुसार ही बुद्ध को ध्यान की प्रचलित मुद्रा में दिखाया गया है। बुद्ध के दायें तथा बायें दो-दो मूर्त्तियाँ ऊपर-नीचे उत्कीर्ण हैं, जिनमें से ऊपर वाली मूर्त्तियाँ जहाँ ध्यानावस्थित दीख पड़ती हैं वहीं नीचे की मूर्त्तियों में गति एवं लय को सुस्पष्ट देखा जा सकता है।

तारामन्दिर-परिसर में सरस्वती की भी एक प्रतिमा है। यह भी प्राचीन मूर्त्ति है। पालकालीन है। सरस्वती ब्राह्मणधर्म की देवी हैं लेकिन हम पाते हैं कि वज्रयान ने सरस्वती को भी अपनाया और उन्हें खास स्वरूप प्रदान कर पूजा। बौद्धपरम्परा में सरस्वती के पाँच स्वरूप निर्धारित किए गए हैं– महासरस्वती, वज्रवीणा सरस्वती, वज्र शारदा, आर्य सरस्वती तथा वज्र सरस्वती। महिषी-परिसर में उपलब्ध मूर्त्ति वज्रवीणा सरस्वती की है। शास्त्रोक्त विधान के अनुरूप ही ये द्विभुजा, शान्त एवं सौम्य हैं, तथा इन्होंने वीणा धारण किया हुआ है।

मंदिर-परिसर में एक अन्य बड़ी मूर्त्ति भी है। इनकी पूजा त्रिपुरसुन्दरी के रूप में होती है। इस मूर्त्ति की ठीक-ठीक पहचान नहीं हो पाई है। मूर्त्ति अभयमुद्रा में है। चार हाथों की आकृतियाँ प्रतीत होती हैं, जिनमें से एक में वीणा तथा दूसरे में पाश का होना अनुमानित है। मूर्त्ति के चारों ओर दीप्त प्रभामंडल दर्शाया गया है। प्रभामंडल के बाह्य भाग में बायीं ओर से एक पुरुष तथा एक स्त्री की दो देव-आकृतियाँ वायुमार्ग से उड़ती हुई प्रतीत होती हैं। इनके हाथों में दुन्दुभि-जैसा कोई वाद्ययंत्र है। बायीं ओर से ही मध्यभाग में एक स्त्री-देवी की आकृति उत्कीर्ण है, जिनका एक हाथ कमर पर है तथा दूसरे हाथ में कोई वस्तु है। मुख्य मूर्त्ति के नीचे भी एक स्त्री-आकृति है जिसके आगे भाले की तरह नोकदार एक वृक्षाकार बना हुआ है। यह अवलोकित की मूर्त्ति हो सकती है, किन्तु पहचान स्थापित नहीं है।

इन सबके अतिरिक्त कई शिवलिंग मिले हैं। भग्न आकृतियाँ भी प्राप्त हुई है, जो या तो मूर्त्ति के हिस्से होंगे या सजावट के अंग रहे होंगे। सबसे सुन्दर एवं

भव्य कलाकृति का नमूना 9 ईंच की एक भग्न पुरुषाकृति है। इसमें जनेऊ पहने होने का अनुमान किया जा सकता है तथा हाथ में स्रुव जैसी किसी आकृति का बोध होता है। यह किसी पुरोहित की मूर्त्ति हो सकती है। शरीर पुष्ट है। नाभि की गहराई सुस्पष्ट दीखती है। गरदन में पहनी गई माला स्पष्ट है। सुन्दर उत्कीर्णन का यह अद्भुत दृष्टान्त है। किन्तु मूर्त्ति भग्न है तथा इसकी पहचान मुश्किल है। यह असंभव नहीं है कि यह मूर्त्ति परवर्त्ती कर्णाटकालीन कला का नमूना हो किन्तु फिर तो कई प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं, जिनका उत्तर देने के लिए न तो हमारे पास ऐतिहासिक साक्ष्य हैं और न ही उनके स्रोत। जो कुछ भी हो, इस परिसर में विद्यमान मूर्त्तियाँ एक सुदीर्घ कालखंड का प्रतिनिधित्व करती हैं। इनमें कई संस्कृतियों के तत्त्व दृश्यमान है। धार्मिक एवं सांस्कृतिक सम्मिलन की ये मनोहारी झाँकियाँ उपस्थित करती हैं।

पंजी-प्रबन्ध और महिषी

पालवंश की समाप्ति के बाद तिरहुत में कर्णाट शासन का आरंभ हुआ। कर्णाट वंश के संस्थापक राजा नान्यदेव थे। जैसा कि वंश-नाम से ही स्पष्ट है, ये लोग कर्णाट देश के निवासी थे, लेकिन इनके साम्राज्य को 'मिथिला का अपना साम्राज्य' माना जाता है। इतिहासकारों एवं संस्कृति-विश्लेषकों की आम राय है कि हजारों वर्ष की दासता के बाद मिथिला कर्णाट काल में 'स्वाधीन' हुई तथा इसका अपना स्वतंत्र राज-पाट हुआ। जनक वंश के शासन के बाद जो भी कोई राजा मिथिला का शासक रहा, उसने मिथिला से बाहर रहकर (बाहर राजधानी रखकर) मिथिला पर राज किया जबकि कर्णाट एवं उनके उत्तरवर्त्ती ओइनवार तथा खण्डवला शासकों ने अपनी राजधानी मिथिला में ही रखी। इसे ही मिथिला का अपना राज कहा जाता है। वरना इसका अन्य कोई निहितार्थ नजर नहीं आता। इन तथाकथित 'अपने' शासकों ने जिस तरह 'अपनों' का खून चूसा और सामन्तवादी मूल्यों को युग-युगान्तव्यापी बनाकर जनता के दिलोदिमाग में ठोक दिया, उसका दृष्टान्त अन्यत्र विरल है। गुलाम मानसिकता का यह अच्छा उदाहरण है कि फिर भी हम उन्हें अपना कहते हैं। कुछ लोग तो उन्हें 'अपना' सिर्फ इसीलिए कहते है कि उन्होंने बौद्धों को प्रश्रय नहीं दिया।

1097 ई. में कर्णाट राजवंश की स्थापना हुई, जबकि यह परिसर 1100 ई. के बाद ही कर्णाट शासकों के नियंत्रण में आ सका। इस तथ्य के साक्ष्य मिलते हैं कि सहरसा जिले के एक बड़े भाग पर नियंत्रण के लिए बंगाल के सेन राजाओं से कर्णाटों को लंबी लड़ाई लड़नी पड़ी। बाद में जब मुस्लिम आक्रान्ताओं का ज़ोर बढ़ा, और धीरे-धीरे मुस्लिम शासक अपना राजशासन कायम करने लगे, बहुत दिनों तक कर्णाटों ने मुस्लिम आक्रान्ताओं से तिरहुत को बचाए रखा। सहरसा जिला गजेटियर के संपादक ने आर.डी. बनर्जी ('बंगाल का इतिहास' ग्रन्थ के लेखक) को यह कहते हुए उद्धृत किया है कि जिन दिनों सुदूर पुरुषपुर से कामरूप तक मुस्लिम आक्रान्ताओं के द्वारा पददलित किया जा चुका था, वह मिथिला ही थी, जहाँ हिन्दू शासक विद्यमान थे, जो शुष्क रेगिस्तान के बीच हरे-भरे उद्यान के सदृश थी। अन्यान्य स्रोत भी इस तथ्य के प्रति सहमति जाहिर करते हैं।

अन्तिम कर्णाट शासक हरसिंह ने 1307 से 1324 ई. के बीच तिरहुत पर राज किया। उन्हें अत्यन्त प्रतापी एवं रणनीति-कुशल राजा के रूप में याद किया

जाता है। 1324 में गयासुद्दीन तुगलक ने बंगाल के साथ-साथ तिरहुत पर भी भयंकर हमला किया। इस्लामी सेना के साथ युद्ध करते हुए राजा हरसिंह अन्तत: रणक्षेत्र से ही पलायन कर गए और नेपाल में जाकर शरण ली, फिर वहाँ अपना शासन कायम किया। 1324 ई. में ही तिरहुत इस्लामी शासकों के नियंत्रण में आ गया। तीस वर्षों तक प्रत्यक्ष नियंत्रण में रखने के बाद सुल्तानों ने तिरहुत का राज कामेश्वर ठाकुर को सौंपा, जिन्होंने ओइनवार राजवंश की स्थापना की।

अन्तिम कर्णाट शासक हरसिंह देव को ही इतिहासकारों ने हरिसिंह के नाम से अभिहित किया है, जिनके समय में मिथिला में पंजी-व्यवस्था का आरम्भ हुआ बताया जाता है। इस दिशा में नवीनतम शोध यह बताता है कि हरसिंह देव तथा हरिसिंह देव दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे, जो कर्णाटवंशी तो अवश्य थे किन्तु परस्पर चाचा-भतीजा थे। वैसे तो पंजी-व्यवस्था में इन दो कर्णाट-पुरुषों की कोई निर्णायक भूमिका नहीं थी किन्तु यदि यह होना संभावित हो भी तो कर्णाट राजा हरसिंह देव का तो कतई नहीं, जिनके पलायन (1324 ई.) के दो या तीन वर्ष बाद 1326 ई. में पंजी-व्यवस्था का प्रवर्त्तन हुआ था। इस विषय में अधिक जानकारी के लिए पं. गोविन्द झा की पुस्तक 'अतीतालोक' का अवलोकन किया जा सकता है।

महिषी चूँकि अत्यन्त प्राचीन काल से ब्राह्मणों का प्रख्यात निवास रहता आया था, अत: स्वाभाविक ही है कि इस पंजी-व्यवस्था में इसकी अवस्थिति का महत्त्वपूर्ण उल्लेख किया गया। आज पंजी-ग्रन्थ के अवलोकन से हमें तत्कालीन महिषी के सम्बन्ध में अनेक ऐतिहासिक सूचनाएँ प्राप्त हो सकती हैं। सर्वविदित तथ्य है कि पंजी-प्रबन्ध का प्राथमिक उद्देश्य रक्त-शुद्धता बनाए रखना था, जिसके लिए वर्जित सम्बन्ध-सीमा के भीतर वैवाहिक सम्बन्ध से बचना जरूरी था। पंजी के व्यवस्थित अध्ययन से कई प्रकार की महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त हो सकती हैं। उदाहरण के लिए यह कि किस काल-खंड में कितनी हद तक बहु-विवाहप्रथा प्रचलित थी, कौन-कौन-सी विद्याएँ पढ़ी-पढ़ाई जाती थीं, किनके पूर्वज कहाँ जाकर बसे तथा यह भी कि वास बदलने में किस कालखंड में किन-किन कारकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही आदि-आदि। मिथिला के कई प्रख्यात महापुरुषों का यथार्थ परिचय पंजी के आधार पर ही आचार्य रमानाथ झा ने प्राप्त किया है।

पंजी के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि चौदहवीं शताब्दी में चार गोत्र के ब्राह्मण महिषी में निवास करते थे। शुद्धता के दृष्टिकोण से इनमें से तीन गोत्रों— शाण्डिल्य, वत्स तथा काश्यप को व्यवस्थित गोत्र का दरजा दिया गया है जबकि एक गोत्र कृष्णात्रेय को अव्यवस्थित माना गया है। मिथिला में कुल दो ही प्रकार

के ब्राह्मण वैदिक काल से ही निवास करते आए हैं– (1) सामवेदी अथवा छन्दोग। ये सामवेद के मंत्रद्रष्टा मैथिल ऋषि गौतम के अनुयायी हैं। (2) याज्ञवल्क्य के अनुयायी शुक्ल-यजुर्वेदी। इन्हें वाजसनेयि कहा जाता है। अन्य प्रान्तों की तरह ऋग्वेदी, कृष्णयजुर्वेदी अथवा अथर्ववेदी ब्राह्मण मिथिला में नहीं पाए जाते। खास बात यह है कि महिषी में उक्त दोनों ही प्रकार के– छन्दोग एवं वाजसनेयि ब्राह्मणों का निवास था।

उक्त काल में महिषी में सात विभिन्न मूलों के ब्राह्मण निवास करते थे, जिनका विवरण इस प्रकार है–

(1) **परिसरे महिषी :** ये शाण्डिल्य गोत्र के थे। अत्यन्त प्राचीनकाल से ये इस परिसर के निवासी थे। सामवेदी, छन्दोग थे। त्रिप्रवर थे। गोत्र व्यवस्थित था।

(2) **पलिवार महिषी :** वत्सगोत्र के थे। शुक्लयजुर्वेदी माध्यन्दिनशाखीय, पञ्चप्रवर थे। विद्या एवं व्यक्तित्व में उन्नतिशील थे। श्रोत्रिय कोटि में परिगणित हुए। बाद में महिषी से प्रव्रजित हो गए। 'पलिवार का डीह' व 'पलिवार का पोखर' के स्मृति चिह्न के रूप में अब भी लोग इस कुल को याद करते है। इसी कुल में म० म० गंगानाथ झा, डॉ० अमरनाथ झा आदि हुए। इनकी कुलदेवी तारा हैं।

(3) **नोनितवार महिषी :** शण्डिल्यगोत्रीय थे। सामवेदी छन्दोग तथा त्रिप्रवर। वर्त्तमानमें इस मूल के लोग महिषी में नहीं पाए जाते।

(4) **बुधवारय महिषी :** वत्सगोत्रीय थे। शुक्लयजुर्वेदी माध्यन्दिन शाखीय। पंचप्रवर थे। कई महान पण्डित एवं तांत्रिक इस कुल में हुए। इस कुल के ब्राह्मण आज भी महिषी में निवास करते हैं। विद्या एवं व्यक्तित्व के कारण उच्चता की श्रेणी हासिल हुई। राजसत्ता में भी भागीदारी रही। बुधवारय या बुधवाल महिषी उन प्रारंभिक चौंतीस मूलों में से है, जिन्हें अत्यन्त व्यवस्थित मूल का दरजा दिया गया।

(5) **जलैवार महिषी :** वत्सगोत्रीय थे। शुक्लयजुर्वेदी। माध्यन्दिनशाखीय वाजसनेयि। पंच प्रवर। इस मूल के ब्राह्मण वर्त्तमान में महिषी में नहीं हैं।

(6) **पकड़िये महिषी :** काश्यप गोत्रीय थे। शुक्लयजुर्वेदी। माध्यन्दिन शाखीय। वाजसनेयि। त्रिप्रवर। इस मूल को आरंभिक काल से ही व्यवस्थित मूल के अन्तर्गत परिगणित किया गया था।

(7) **भुसवरे महिषी :** कृष्णात्रेय गोत्र के थे। शुक्लयजुर्वेदी। माध्यन्दिनशाखीय वाजसनेयि। त्रिप्रवर। यह गोत्र आरंभिककाल में मैथिल ब्राह्मणों के व्यवस्थित गोत्रों में शामिल नहीं था, बाद में परिगणित किया गया।

मन्दिर-निर्माण और उससे जुड़ी किम्बदन्तियाँ

हम देखते हैं कि कर्णाट राजवंश के काल से ही तिरहुत पर मुस्लिम आक्रान्ताओं का आक्रमण प्रारंभ हो चुका था। इन आक्रमणों की त्वरा तथा बारंबारता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इन विदेशी आक्रान्ताओं ने मठ, विहार तथा देवस्थलों को ध्वस्त किया, मूर्त्तियाँ तोड़ीं, विश्वविद्यालयों का विनाश किया तथा हजारों की संख्या में धर्मगुरुओं, पंडितों तथा संन्यासियों को मौत के घाट उतार दिया। कहते हैं कि विक्रमशिला विश्वविद्यालय को विनष्ट करने के बाद आक्रान्ताओं को जब जिज्ञासा हुई कि इन किताबों में क्या लिखा है, तो उन्हें यह बताने के लिए एक भी जीवित व्यक्ति नहीं बचा था। तब उन लोगों ने उसमें आग लगा दी तो कहते हैं कि महीनों तक वहाँ आग लगी रही और ज्ञान का वह विश्वविख्यात भंडार धू-धूकर जलता रहा।

हम पाते हैं कि ओइनवार तथा खण्डवला कुल के अधिकांश शासकों का काल इसी अफरातफरी में बीता। जनता पर जो मुस्लिम आक्रान्ताओं का आतंक था, उसका विवरण हमें तत्कालीन कृतियों में मिलता है। महाकवि विद्यापति ने भी उल्लिखित किया है कि ये आक्रान्ता किस प्रकार निरीह आमजन को प्रताड़ित करते थे व धर्मान्तरण करने के लिए बाध्य करते थे।

इन परिस्थितियों के आलोक में देखें तो हम पाते हैं कि महिषी-परिसर का स्वर्णकाल बीत चुका था। अब अतीत की राख ही बच गई थी, जो दूह बनकर पृथ्वी के गर्भ में समाने को विवश थी। इन देशी नरेशों ने भी कई धर्मकार्य किए। इनके विवरण हमें तत्कालीन अभिलेखों में तथा इतिहास-पुस्तकों में मिलते हैं। जब-जब राजधानी को स्थानान्तरित किया गया, नए-नए राजमहल बने। नए देवस्थल निर्मित किए गए। विभिन्न शासकों की रुचि विभिन्न धर्मस्थलों के प्रति थी, उन्होंने उन स्थलों का विकास किया। विभिन्न कस्बों तथा गाँवों में सैकड़ों की संख्या में तालाब खुदवाए गए। हजारों बीघा जमीन बह्मोत्तर तथा शिवोत्तर के रूप में बाँटी गई। यह सब पुण्यार्थ था और व्यक्तिगत रुचि के परिणामस्वरूप था।

इसी कालखंड, खास तौर पर खण्डवला-काल में, नए-नए प्रकार की धर्मचर्याएँ राजघराने में प्रवेश करती दिखीं। शक्ति-उपासना के स्थान पर वैष्णव धर्मचर्या का प्रवेश मिथिला में हुआ, जो कि मिथिला के लिए सर्वथा एक नई बात थी। रामभक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। महंतों का प्रवेश हुआ। राजा राम का अवतरण भय

से मुक्ति के लिए और शोषणपरक अपनी राजव्यवस्था को धार्मिक तर्कसंगति प्रदान करने के लिए आरंभ हुआ। असुरक्षा-भावना से भरी तत्कालीन परिस्थितियों की यह एक तर्कसंगत परिणति थी। अतीत की बातें अतीत में ही छूट गईं। जो दबा सो दबा। यह काल का सहज प्रवाह ही था, जिसे युगीन प्रवृत्तियों ने सहायता पहुँचाई।

महिषी-परिसर के आधुनिक सांस्कृतिक इतिहास का आरंभ 1743 ई॰ के बाद होता है। यही वह वर्ष था, जब खण्डवला कुल के महाराज नरेन्द्र सिंह ने राजगद्दी संभाली थी। वह महाराज राघव सिंह के कनिष्ठ पुत्र थे। खण्डवला कुल में राघव सिंह ही सर्वप्रथम ऐसे शासक थे, जिन्हें मुगलसम्राट औरंगजेब ने 'राजा' की उपाधि दी थी, और उन्होंने अपने नाम के साथ 'सिंह' धारण किया था, उनके पूर्व के शासक 'ठाकुर' कहलाते थे। बहुत चतुराई से उन्होंने सम्राट के प्रतिनिधि से तिरहुत का पट्टा हासिल किया था और कुशल प्रशासन के जरिये मिथिलाराज को व्यवस्थित किया था। सामाजिक वर्चस्व बनाए रखने के दृष्टिकोण से उन्होंने पंजी-व्यवस्था को भी अपने नियंत्रणाधीन कर लिया था। महाराज राघव सिंह के दोनों पुत्र विष्णु सिंह तथा नरेन्द्र सिंह– बात-बेबात पर लड़ने-भिड़ने के व्यसनी थे, ऐसा इतिहास के अवलोकन से स्पष्ट होता है। संभव है, नई-नई प्राप्त 'राजा' की उपाधि की यह तात्कालिक ऊष्णता हो। राघव सिंह के बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र विष्णु सिंह राजा बने थे। सूचना मिलती है कि राजा विष्णु सिंह एकबार सपरिवार सदल-बल रामनवमी के पुण्य अवसर पर दर्शन-पूजन के लिए जनकपुरधाम गए। किसी चर्चा-प्रसंग में वहाँ के राजा के साथ कहासुनी हो गई, जो भीषण संघर्ष में बदल गई। और, इसी संघर्ष में वे मारे गए। उनकी रानियाँ जो लौटकर राजधानी आ सकीं, वह भी काफी मुश्किल से (सन्दर्भ मिथिला-तत्त्व विमर्श)। ऐसा प्रतीत होता है कि आक्रोश में आकर अनर्थकारी निर्णय लेना उन्हें विरासत में अपने पिता से मिला था। महाराज राघव सिंह ने आज्ञा-उल्लंघन के अपराध में धरमपुर परगना के तहसीलदार बीरू खवास का वध तो कर ही दिया था, आक्रोश में उन्होंने यह आदेश भी कार्यान्वित करवाया था कि बीरू खबास की जाति, कुर्मी, के तमाम वाशिंदों को राज्य की सीमा के बाहर खदेड़ दिया जाय। (सन्दर्भ- मिथिला दर्पण)।

उपर्युक्त सन्दर्भों की चर्चा सिर्फ इसलिए की गई कि महाराज नरेन्द्र सिंह की मनोरचना की पृष्ठभूमि हमारे सामने स्पष्ट हो सके। वह ऐसे महाराज हुए जिन्हें बड़े पैमाने पर ब्रह्मवध करवाने के फलस्वरूप पंडितों ने 'महापातकी' की कोटि में रखा था। इतिहास पुस्तकों में उनके प्रशासनिक प्रबन्धन की प्रशंसा मिलती है किन्तु साथ ही यह भी लिखा मिलता है कि बे-बात लड़ने-भिड़ने की प्रवृत्ति उनमें अत्यधिक थी, जिस कारण राज्य में अशान्ति की स्थिति बनी रहती थी।

महाराज नरेन्द्र सिंह के सम्बन्ध में सूचना मिलती है कि 1743 से 1760 तक वे राजगद्दी पर रहे, पश्चात् असाध्य रोग के कारण उनकी मृत्यु हुई। यह भी कई जगह अंकित मिलता है कि उनके बाद, उनकी पत्नी पद्मावती ने भी राजगद्दी पर बैठकर शासन चलाया। कई जगह इन दोनों का काल 1770 ई. तक उल्लिखित मिलता है।

महिषी में वर्त्तमान काल में विद्यमान तारा-मंदिर के निर्माण तथा तारा-मूर्त्ति की पुनर्स्थापना के साथ रानी पद्मावती का नाम जोड़ा जाता है। ये पद्मावती उपर्युक्त महाराज नरेन्द्र सिंह की पत्नी थीं।

तारा-मूर्त्ति की पुनर्स्थापना, मंदिर के निर्माण, कुछ प्रथाओं के आरम्भ के साथ-साथ अन्य भी कई बातों को लेकर महाराज नरेन्द्र सिंह एवं महारानी पद्मावती के सम्बन्ध में मिथिला में कई किम्बदन्तियाँ प्रचलित हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख हम यहाँ करते हैं। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि मिथिलाा के राजवंश के साथ-साथ सामाजिक गतिविधियों का यदि यथार्थ ऐतिहासिक पाठ हमें प्राप्त करना हो तो किम्बदन्तियों का उपयोग करना ही होगा। इसका कारण यह है कि 'अप्रिय सत्य' को लिपिबद्ध करने से हमेशा मैथिल पंडितों ने परहेज किया है। मौखिक निन्दा और कुचेष्टा तो खूब चलती रहती है, किन्तु उसे कोई भी लिखना नहीं चाहता। और, अप्रिय सत्य को यदि छाँट दिया जाए तो क्या पूर्ण सत्य के दर्शन हो पाना संभव है?

तारा-मंदिर के परिप्रेक्ष्य में तो हम पाते हैं कि सम्पूर्ण 'प्रिय सत्य' भी लिपिबद्ध नहीं मिलता। अप्रिय सत्य की तो बात ही छोड़िए। इन किम्बदन्तियों तक पहुँचने में मैथिली के विशिष्ट साहित्यकार और प्राध्यापक हंसराज (अब स्वर्गीय) ने मेरी बहुत सहायता की। मिथिलेतिहास के अलिखित पाठ का वह जीवित विश्वकोश थे। हमलोगों के लाख आग्रह के बावजूद इन सबको वह लिपिबद्ध नहीं कर पाए। इस प्रकार की उनकी केवल एक पुस्तक 'पाछाँ सँ अबैत इजोत' उनके निधनोपरान्त प्रकाशित हुई है, जिसमें दुर्गागंज के राजपरिवार का इतिवृत्त है।

इन किम्बदन्तियों पर कृपया एक नजर दी जाए। जिस किम्बदन्ती का सत्यापन अब तक किसी स्रोत से मैं कर पाया हूँ, उसका उल्लेख भी यथास्थान कर दिया गया है–

(1) वर्त्तमान मंदिर की स्थापना महारानी पद्मावती ने कराई थी। इसका सत्यापन कई स्रोतों से होता है। म.म. परमेश्वर झा ने अपनी पुस्तक में महारानी का सन्दर्भ दिया है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्य लेखक यथा म.म.श्री कृष्ण ठाकुर (मिथिला तीर्थ प्रकाश) तथा बिहारी लाल फितरत (आईना-ए-तिरहुत) ने भी

महिषी में तारा पूजन के जारी रहने का उल्लेख किया है।

मंदिर के निर्माण का काल 1750 ई० से 1770 के बीच का कोई वर्ष हो सकता है।

(2) महारानी पद्मावती का नैहर महिषी ग्राम में था, इसी कारण उन्हें मंदिर-निर्माण की प्रेरणा हुई थी।

सत्यापन नहीं हो सका है। पंजीग्रन्थ से सत्यापन हो सकता है।

(3) 1750 ई० के पहले इस स्थान पर कोई मठ या मंदिर नहीं था। यह जंगली क्षेत्र था, जो एक ऊँचे टीले पर अवस्थित था। इस स्थान पर एक अतिविशाल पीपल का पेड़ था। आस-पास मवेशी चरते थे। यहाँ चरवाहे तथा मवेशी आकर आराम करते थे। अक्सर देखा जाता कि यहाँ एक चमत्कार घटित होता था। जैसे ही कोई दुधारू गाय इस स्थल पर आती कि उसके थन से दूध टपकने लगता था। बार-बार घटित होने के कारण यह घटना चर्चा का विषय बनी हुई थी। यह बात महारानी के कानों तक पहुँची। वह इस स्थान पर आई। तब उन्हें स्वप्न आया कि इस विशाल वृक्ष के कोटर में भगवती तारा का निवास है, तुम उनके लिए मंदिर बनवाओ। महारानी ने स्थल पर पहुँचकर जाँच करवाई तो बात यथार्थ निकली। तब उन्होंने मंदिर का निर्माण कराया और भगवती की पुनर्स्थापना कर नियमित पूजा-पाठ का प्रबन्ध किया।

यह किम्बदन्ती महिषी परिसर में भी सुनी जाती है। अभी भी महिषी में तारा को लोग 'गाछ तरवाली' (पेड़ के नीचे निवास करनेवाली) कहते हैं। किन्तु किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में इसका उल्लेख नहीं मिलता है। पूजा-पाठ का प्रबन्ध आजादी के बाद तक मधुबनी ड्योढ़ी द्वारा नियमित रूप से किया जाता था। इसका उल्लेख सहरसा जिला गजेटियर में भी किया गया है। ज्ञात हो कि उक्त महारानी के काल में मिथिला राज की राजधानी मधुबनी (भौआरा) में ही थी, राजधानी का दरभंगा स्थानान्तरण तो बाद के महाराज प्रताप सिंह ने किया। आपसी हिस्सेदारी की भी कोई बात हो सकती है। यह प्रमाणित है कि मंदिर-प्रबन्धन के हेतु ब्रह्मोत्तर तथा शिवोत्तर राज द्वारा ही प्रदान किया गया है।

(4) राजा नरेन्द्र सिंह के किसी सम्बन्धी की अकाल मृत्यु हुई। उस समय तक मंदिर बनना आरम्भ नहीं हुआ था। हिन्दूतंत्र के अनुसार तारा को पद्मारूढ़ा नहीं अपितु शवारूढ़ा बताया गया है। तांत्रिकों ने महारानी को सलाह दी कि महिषी में पीपल वृक्ष के नीचे जो तारा की मूर्त्ति मिली है, उसे लाकर चिता पर स्थापित किया जाए। इससे प्रेत को मोक्ष मिलेगा। महारानी इसके लिए तैयार हो गई। वृक्ष को काटकर मूर्त्ति को उखाड़ा जाने लगा। बहुत मजदूर लगाए गए। किन्तु, वे मूर्त्ति

को उखाड़ नहीं पाए। यह देखा गया कि भगवती के पैर तले से दो कमल नाल नीचे की ओर बढ़ते थे जो पाताल तक चले गए थे और काफी खुदाई करने पर भी उनका कहीं अन्त नहीं मिलता था। इस बात से महारानी और अधिक अमंगल के भय से सिहर उठीं और उन्होंने यहाँ तत्क्षण मन्दिर-निर्माण आरम्भ कराने का आदेश दिया।

इस आशय की किम्बदन्ती महिषी--परिसर में भी सुनी जाती है। किसी स्रोत से सत्यापन नहीं होता। इतना भर तय है कि महारानी के होते उनके परिवार में दो सदस्यों की अकाल मृत्यु हुई थी– (1) भैंसुर महाराज विष्णु सिंह तथा (2) पति महाराज नरेन्द्र सिंह। 'आईना-ए-तिरहुत' में तो उल्लेख मिलता है कि 1792 ई० में जब अंग्रेजों ने जमींदारी का मालिकाना हक जब्त किया, उस समय महारानी पद्मावती को गुजर-बसर के लिए दस मौजा खास तौर पर दिया गया था। यानी कि 1792 तक वे जीवित थीं। म.म. परमेश्वर झा उल्लेख करते हैं कि महाराज के निधनोपरान्त, चूँकि वह पुत्रहीन थे अत: उनके कर्त्तापुत्र कीर्त्तिसिंह को आठ मौजा सौंपा गया था, जिसमें महिषी (परगना कवखण्ड) भी एक था। इन सबसे इस परिसर पर उनका शासनाधिकार प्रमाणित होता है।

(5) महारानी पद्मावती अत्यन्त दयालु और संवदेनशील प्रकृति की महिला थीं जबकि महाराज नरेन्द्र सिंह बड़े ही क्रोधी, अहंकारी और खूंखार प्रकृति के पुरुष थे। अक्सर नवाबों तथा सामन्तों से उनकी लड़ाई होती रहती थी। लड़ने-भिड़ने के लिए उन्होंने अपनी एक बड़ी फौज बनाने का तय किया। किन्तु शान्तिप्रिय मैथिलों में मरने-मारने की हिंसक प्रवृत्ति का अभाव पाया जाता था। इससे राजा को जानमाल की काफी क्षति उठानी पड़ती थी। इस परिस्थिति में, राजा ने पंडितों को राजी कर प्राय: प्रत्येक गाँव में ऐसा धर्मस्थल चिह्नित किया, जहाँ समारोहपूर्वक नियमित पशुबलि की प्रथा आरम्भ की गई। इसके पीछे उनकी सोच यह बताई जाती है कि बचपन से ही लोग कत्ल होते देखेंगे, वह भी धर्म के नाम पर, तो उनमें काटने-मारने की हिंसक मनोवृत्ति पैदा होगी। इसके लिए उन्होंने जबरन पंडितों-पुरोहितों का समर्थन हासिल किया। इस प्रथा के लिए राजा ने महिषी के तारास्थान का भी चयन किया। महिषी के कुछ पंडितों ने इसका विरोध किया। स्वयं महारानी भी अमंगल-भय से इसके लिए तैयार नहीं थीं क्योंकि उन्हें बताया गया था कि यहाँ पशुबलि विहित नहीं होना चाहिए। किन्तु, उन्हें राजा की जिद पर झुकना पड़ा और महिषी में पशुबलि आरम्भ करवाई गई।

इस बात का सत्यापन तो कई पुस्तकों (यथा मिथिला दर्पण) से होता है कि रानी दयालु एवं परोपकारी थीं। यह भी सत्यापित होता है कि खदिरवनी तारा

(जिनकी मूर्त्ति महिषी में स्थापित है) की उपासना में पशुबलि बौद्ध-परम्परा में विहित नहीं थी। वहाँ आत्मबलि की अवधारणाा थी। वहाँ साधक के लिए अपने क्रोध, भय, अहंकार आदि की बलि चढ़ाना निर्देशित था। पद्मारूढ़ा तारा वस्तुत: विद्या और ज्ञान की देवी थीं। उनका स्वरूप सौम्य था तारा का उग्र स्वरूप पृथक् था, जिसकी चर्चा अन्यत्र की गई है। जो पंडित इस तथ्य से अवगत रहे होंगे, निश्चय ही उन्होंने विरोध किया होगा। किन्तु हिन्दू तंत्र में तारा को शवारूढ़ा तथा मुण्डमाल-भूषिता वर्णित किया गया है तथा उन्हें विकरालस्वरूपा कहा गया है। हो सकता है कि महाराज को इसी तथ्य के आधार पर अपने तांत्रिकों की सहमति प्राप्त हो गई होगी। लेकिन तब भी इस मूर्त्ति के स्वरूप और उपासना के विधान के बीच विरोधाभास रह ही जाता है। उसकी संगति बैठाना कठिन है।

जहाँ तक इस किम्बदन्ती में सत्यांश के होने का प्रश्न है, यह तभी हो सकता है जब क्रमांक 4 पर वर्णित किम्बदन्ती में राजा नरेन्द्र सिंह की चिता पर मूर्त्ति की स्थापना की बात झूठी हो। संगति इस तरह बैठ सकती है कि संभवत: राजा विष्णु सिंह की चिता पर स्थापित करने का प्रस्ताव आया हो। लेकिन यह विरोध फिर भी रह ही जाता है कि उस समय तक तो नरेन्द्र सिंह का राज्याभिषेक नहीं हुआ था, अत: पद्मावती भी महारानी की हैसियत से यह निर्णय कैसे ले सकती थीं। लेकिन संगति बैठाने के लिए यह कहा जा सकता है कि मृत्यु किसी साधारण व्यक्ति की नहीं अपितु स्वयं राजा की हुई थी, जिनके राज में महिषी अवस्थित था, अत: ऐसा निर्णय लिया जा सकता था।

महाराज नरेन्द्र सिंह लड़ाकू प्रकृति के राजा थे, यह बात तो कई स्रोतों से सत्यापित है।

तारा-मूर्त्ति की पुनर्स्थापना के पूर्व उपासना की क्या पद्धति प्रचलित थी, इसकी जानकारी केवल पुस्तकों से मिल सकती है। पूर्व में यहाँ मठ या मंदिर जो भी कुछ रहा होगा, वह या तो मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा ध्वस्त कर दिया गया अथवा समय की धारा में स्वत: ही ध्वस्त हो गया। हम कहना यह चाहते हैं कि पूर्व की कोई उपासना-पद्धति परम्परा के रूप में प्राप्त नहीं हुई थी। इसका निर्धारण तत्कालीन पंडितों द्वारा शास्त्र विहित विधानों तथा अपने विवेक के आधार पर ही किया जा सकता था। यह किम्बदन्ती हमें इतना ही सूचित करती है कि राजा ने पंडितों के कार्य में अवांछित हस्तक्षेप किया तथा अपनी मंशा थोपी।

(6) यह भी किम्बदन्ती मिलती है कि बलिप्रथा के समर्थन और विरोध को लेकर पंडितों के बीच जो मतान्तर हुआ था, वह निरंतर आगे बढ़ता गया। पद्मावती का एक कोई भाई था, जो इस आग को हवा देता रहा। इसने आगे संघर्ष

का रूप ले लिया और पंडितों के एक कुल को महिषी से भागना पड़ा। फिर यह कथा भी प्रचलित है कि राजा के आदेश पर रानी पद्मावती इस परिसर से 100 बलिष्ठ नौजवानों को फौज में भरती कराने हेतु ले गई थीं। वे सभी नौजवान युद्ध में मारे गए। एक भी युवक लौटकर अपने घर नहीं आ सका। फिर, यह भी किम्बदन्ती प्रचलित है कि सुप्रसिद्ध कन्दर्पी घाट की लड़ाई में, वास्तव में राजा नरेन्द्र सिंह की विजय नहीं हुई थी। जब उनके सैनिक हताहत हो गए तो उन्होंने नवाब के प्रतिनिधि से गुप्त समझौता कर लिया और किसी तरह अपनी गद्दी बचाने में सफल हुए। उन्होंने जोर-शोर से प्रचारित करवा दिया कि उनकी विजय हुई है।

इस किम्बदन्ती के कुछ अंशों का सत्यापन लिखित साक्ष्यों से होता है। रानी पद्मावती का एक भाई वास्तव में था, जिसका नाम 'पृथ्वी झा' था, इसका उल्लेख म.म. मुकुन्द झा बख्शी ने अपनी पुस्तकों में किया है। उनके अनुसार वह वास्तव में नकारात्मक प्रवृत्ति का व्यक्ति था और निरन्तर षड्यन्त्र में रत रहता था, उसके कारण राज-प्रशासन में अनेक व्यवधान उपस्थित होते रहते थे।

पंजी-प्रबंध के अनुसार सात कुल के ब्राह्मण महिषी में निवास करते थे। उनमें से अधिकांश अब महिषी में नहीं रहते हैं। इस स्थान-परिवर्त्तन (माइग्रेशन) के कई कारण रहे होंगे। संभव है, इनमें से एक कारण, किसी विशेष कुल के सन्दर्भ में, यह विवाद भी रहा हो। मैथिल ब्राह्मणों का स्थान-परिवर्त्तन काफी पुराने समय से विभिन्न कारणों से होता रहा है, लेकिन यह कहा गया है कि राजा नरेन्द्र सिंह के समय में यह सर्वाधिक हुआ। इसकी अन्तर्कथा के रूप में अन्य भी अनेक किम्बदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं।

नवाब के प्रतिनिधि के साथ हुई कन्दर्पी घाट की लड़ाई में महाराज नरेन्द्र सिंह की विजय हुई थी, यही बात मिथिला-स्कूल के इतिहासकारों के द्वारा कही गई है। महाराज नरेन्द्र सिंह के दरबारी कवियों चन्द्रकवि तथा लालकवि के लिखे प्रशस्ति-काव्य अब भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें उनके विजय की कथा कही गई है। लेकिन मैथिलेतर साक्ष्य (यथा 'रियाजू-एस-सलतिन') में उन्हें पराजित बताया गया है। राम प्रकाश शर्मा ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में इस पुस्तक का उद्धरण प्रस्तुत किया है।

राजा नरेन्द्र सिंह द्वारा लड़े गए एक युद्ध में मरनेवाले सवर्ण सैनिकों के संख्या के बारे में यह किम्बदन्ती अत्यन्त प्रसिद्ध है कि जब मारे गए सैनिकों का जनेऊ निकालकर वजन किया गया था तो वह पन्द्रह पसेरी हुआ था। इस बात का उल्लेख रास बिहारी लाल दास ने अपनी पुस्तक 'मिथिला दर्पण' (1915 ई०) में भी किया है। जनेऊ का वजन वह 74 सेर बताते हैं। उन्होंने एक प्रचलित

जनविश्वास का उल्लेख भी अपनी पुस्तक में किया है। वह लिखते हैं कि मिथिला में जब कोई हथौटी (हस्ती) चिट्ठी किसी को भेजता है तो पत्र के कागज को मोड़ने के बाद वह ऊपर 74 अंक लिख देता है। इसका निहितार्थ यह है कि कोई व्यक्ति इस पत्र को नहीं पढ़े, जो पढ़ेगा उसे 74 सेर जनेऊ के बराबर ब्रह्महत्या का पातक लगेगा, जैसा राजा नरेन्द्र सिंह को लगा था।

राजा नरेन्द्र सिंह के सम्बन्ध में एक यह किम्बदन्ती भी प्रसिद्ध है कि युद्ध में तथाकथित विजय के बाद राजा ने एक विशाल ब्राह्मण-भोजन का आयोजन किया, जिसमें दूर-दूर से सुयोग्य ब्राह्मणों को खास तौर पर बलपूर्वक आमंत्रित कर मंगवाया गया। पंडितगण राजा से नाराज थे, उनका अन्न ग्रहण नहीं करना चाहते थे। लेकिन लाचार थे। अन्ततः किसी श्रेष्ठ पंडित ने व्यवस्था दी कि आपद्धर्म के रूप में अन्न ग्रहण किया जा सकता है बशर्त्ते कि भोजन के समय राजा समक्ष नहीं आवें। राजा को यह शर्त्त बताई गई। राजा ने स्वीकार कर लिया। भोजन की तैयारी हुई। ब्राह्मण लोग पत्तल पर बैठे। अन्न-व्यंजन परोसा गया। ब्राह्मणों ने भोजन-पूर्व का विहित कृत्य किया। अब वे भोजन का पहला ग्रास ग्रहण करने ही वाले थे कि राजा नरेन्द्र सिंह पाँत के बीच आकर खड़े हो गए। ब्राह्मणों के हाथ जहाँ के तहाँ रुक गए। एक ज्ञानवृद्ध और साहसी ब्राह्मण ने राजा से कहा– 'यह तो शर्त्त नहीं थी!' राजा ने उद्दंडतापूर्वक जवाब दिया– 'शर्त्त की बात ही मत उठाइए। मैं राजा हूँ। आपलोगों को आदेश दे रहा हूँ कि भोजन करिये। नहीं तो जहाँ 74 सेर सही, वहाँ पावभर और सही।' और राजा ने तलवार निकाल ली। कहते हैं, मौत के डर से ब्राह्मणों ने भोजन तो जरूर कर लिया लेकिन उनमें से कोई भी लौट कर अपने घर नहीं गया। मिथिलाराज को छोड़कर वे विभिन्न प्रान्तों में जाकर बस गए।

इस परिप्रेक्ष्य में लगता है कि महिषी को लेकर प्रचलित किम्बदन्तियों में सच्चाई हो सकती है लेकिन सिर्फ इसकी ही सच्चाई का दावा करना भी उचित नहीं होगा।

जो भी हो, जैसा भी हो, आज महिषी जहाँ जैसा है, आपकी आँखों के सामने है। इसके इतिहास का स्वर्णिम अध्याय हमें पुकारता है। क्या आप इसकी पुकार सुनना पसन्द करेंगे?



द्वितीय अध्याय

तारा साधना का प्राचीन इतिहास

हिन्दू धर्म हो चाहे बौद्ध धर्म, उनमें जितनी भी स्त्री देवियाँ हैं, उनके व्यक्तित्व को देखें तो हम पाते हैं कि वे अपने पति-देवता की स्त्री-अनुकृतियाँ मात्र हैं। थोड़ी-सी गिनी-चुनी देवियाँ हैं, जिनका स्वयं का अपना विराट व्यक्तित्व है। इनमें तारा सर्वोपरि हैं।

भगवान अवलोकितेश्वर के करुणापूर्ण अश्रुओं से उत्पन्न तारा पहले मात्र एक बोधिसत्व थीं, फिर बुद्ध हुईं और अन्ततः उनकी महिमा इतनी व्यापक हुई कि वह 'सभी बुद्धों की माता' घोषित की गईं।

जो मनुष्य आज धरती पर विद्यमान हैं, और जो भविष्य में पैदा होनेवाले हैं; तारा उन सबों की माँ हैं, क्योंकि हर मनुष्य के भीतर एक सम्भावित बुद्ध विराजमान हैं। और, तारा सभी बुद्धों की माँ हैं— यह है तारा के सम्बन्ध में बौद्ध दृष्टिकोण।

बौद्ध-परम्परा में तारा

एक बात हमें आरम्भ में ही समझ लेनी चाहिए कि महिषी के तारास्थान में हम जिस तारा की मूर्त्ति की पूजा करते हैं, वह शुद्ध रूप से एक बौद्ध देवी हैं। तारा की प्राचीन मूर्त्तियाँ देश के कई भागों में प्राप्त हुई हैं, जिनमें परस्पर भिन्नता भी पाई जाती है। इसके दो कारण हैं। एक तो स्वयं बौद्ध तन्त्र-परम्परा में ही तारा के कई रूपों की परिकल्पना की गई व उनकी अलग-अलग मूर्त्तियाँ बनाई गई, जिनमें परस्पर भिन्नता है। दूसरे, ब्राह्मण-धर्म में स्वीकार कर लिए जाने के बाद हिन्दू साधकों ने भी अपने भावानुरूप उनके रूपों में कतिपय परिवर्त्तन कर उनकी मूर्त्तियाँ बनवाई। किन्तु, तारास्थान में उपलब्ध मूर्त्ति शुद्ध रूप से तारा की मूल परिकल्पना के अनुरूप है तथा इसमें कोई भी परवर्त्ती प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता।

यहाँ हम अत्यन्त संक्षेप में यह स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे कि बौद्ध-परम्परा में तारा के सम्बन्ध में मूलतः क्या अवधारणा है।

हिन्दू परम्परा में हम जितनी देवियों को जानते हैं, उनका यदि हम विश्लेषण करें तो पाएँगे कि वे अपने पति-देवता का ही स्त्री-रूप हैं। उनके पति ऐश्वर्यशाली देवता के रूप में पूजित हैं तो उस ऐश्वर्य का कोमल तत्त्व हमें उस देवी के व्यक्तित्व में दीख पड़ता है। इन्द्र-इन्द्राणी, विष्णु-लक्ष्मी, शिव-पार्वती, आदि को हम दृष्टान्त के रूप मेंदेख सकते हैं। बौद्ध-परम्परा भी इस स्थिति से अलग नहीं है। दोनों परम्पराओं में कुछ ही ऐसी महिमाशाली देवियाँ हुई हैं, जिनका अपना पृथक् व्यक्तित्व है, अपना पृथक् ऐश्वर्य है। बौद्ध-परम्परा में तारा एक ऐसी सर्वोच्च सत्ता के रूप में पूजित हैं, जिनका अपना न केवल पृथक् व्यक्तित्व है बल्कि वह इतनी महिमाशाली हैं कि उन्हें **'पृथक् व्यक्तित्व की आदि निर्मात्री'** माना गया है। स्पष्टतः बौद्ध-परम्परा में तारा का जितना माहात्म्य है और जितनी लम्बी निरन्तरता के साथ उनकी साधना व्यापक रूप से प्रसारित व प्रचलित रही है, वैसा महत्त्व किसी भी अन्य देवी-देवता को प्राप्त नहीं है।

(1) **बोधिसत्व-तत्त्व : मार्टिन विल्सन** के अनुसार बौद्ध-परम्परा में तारा की प्राथमिक अवधारणा बोधिसत्व-रूप में प्रचलित हुई। बोधिसत्व वह व्यक्ति होता है, जो बुद्धत्व के निकट तो आ चुका होता है लेकिन पूर्ण व सनातन बुद्धत्व उसे प्राप्त नहीं हुआ होता है। इसी बात को इस तरह भी कहा जा सकता है कि कोई बुद्ध जब अपने पूर्ण व सनातन बुद्धत्व में कोई कमी या च्युति रह जाने के

कारण संसार में रहने को बाध्य होता है तो उसे हम बोधिसत्व कहते हैं। आमतौर पर इन्हें बुद्ध का पूर्वरूप माना जाता है। बौद्ध-परम्परा में सैकड़े की संख्या में बोधि सत्वों का विवरण प्राप्त होता है लेकिन ये सभी बोधिसत्व पुरुष ही हुए। तारा एक अद्भुत मातृशक्तिसम्पन्न देवी हुईं, जिन्होंने नारी होने के बावजूद बोधिसत्व-तत्त्व उपलब्ध किया। उनके सम्बन्ध में जो विवरण प्राप्त होते हैं तदनुसार **बोधिसत्व तारा** का अखण्ड व्रत था– जनसाधारण के हितार्थाय सदैव कार्यशील रहना। उनकी प्रधान शक्ति **करुणा** थी। एक नारी होने के बावजूद उन्होंने अपनी सीमाओं से आगे बढ़कर इतने अद्भुत सेवा-कार्य किए कि उनकी बदौलत नारीत्व में देवत्व का आरोहण हुआ। महाचीन की तारा-उपासना के गंभीर अध्येता **मार्टिन विल्सन** ने गद्गद् होते हुए अपनी पुस्तक 'In Praise of Tara' में लिखा है कि उनके व्यक्तित्व में नारीत्व की इतनी बहुआयामी गरिमा दीख पड़ती है कि वे आज बीसवीं शताब्दी की युगचेता नारियों के लिए भी प्रेरणा का विषय बन सकती हैं।

बौद्ध-परम्परा के अनुसार तारा ने सर्वप्रथम भगवान **अवलोकितेश्वर** की सृष्टि के रूप में धरती पर अपने-आपको प्रकट किया। सुप्रसिद्ध मान्यता है कि तारा की उत्पत्ति अवलोकितेश्वर के करुणापूर्ण अश्रुओं से उत्पन्न कमल से हुई। हिन्दू-परम्परा में ब्रह्मा की उत्पत्ति-कथा से हम इसे समझ सकते हैं। तारा की जो सबसे प्राचीन मूर्त्ति प्राप्त हुई है और जिसका काल छठी शताब्दी निर्धारित किया गया है, उस मूर्त्ति में तारा को अवलोकितेश्वर के साथ दिखाया गया है– बीच में अवलोकित, दायीं ओर तारा तथा बायीं ओर उनकी बहन भृकुटि।

बौद्ध परम्परा में अवलोकितेश्वर की महिमा सर्वोच्च करुणा-सागर के रूप में प्रसिद्ध रही है। यह माना जाता है कि प्राणियों के तमाम कष्टों से अवलोकित द्रवित हो जाते हैं और अहैतुक रूप से उनका कष्ट-निवारण करते हैं।

अत्यन्त प्रारंभिक काल में तारा की मान्यता किस प्रकार जन-मानस में प्रचलित हुई, इसके लिए हमें एक नजर इतिहास पर डालनी चाहिए। हम देख सकते हैं कि छठी शताब्दी के प्रारम्भ में प्राणियों के कष्ट-हरण के लिए तथा आठ प्रकार के प्रधान भयों से जीव की रक्षा करने के लिए **अवलोकितेश्वर** ही एकमात्र देवता थे। इन आठ प्रकार के भयों के कारक थे **व्याघ्र** आदि नरभक्षी जीव, **हाथी** आदि विशालकाय प्राणी, **आग**, **सर्प**, **लुटेरे**, **कारागार**, **जल** तथा **पिशाच** आदि सूक्ष्म विनाशक। छठी शताब्दी के उत्तर भाग में आकर हम देखते हैं कि इन आठ भयों से रक्षा अकेले अवलोकितेश्वर नहीं बल्कि त्रिदेव करते हैं– अवलोकितेश्वर, तारा तथा भृकुटि। कहना न होगा कि उस काल में इन त्रिदेवों के नायक निश्चय ही अवलोकितेश्वर ही रहे। **अजन्ता**, **एलोरा**, **औरंगाबाद**, **नासिक**, **कन्हेरी** की

गुफाओं में उत्कीर्ण चित्र-मूर्त्तियों में हमें ये त्रिदेव अक्सर ही साथ-साथ दिखाई देते हैं। किन्तु, सातवीं शताब्दी में आकर स्थिति पूर्णतः बदल जाती है। इस काल में आठ प्रकार के भयों से रक्षा करने वाली प्रधान देवी **तारा** हो जाती हैं। इस बात के संकेत मिलते हैं कि इस काल में तारा ही करुणा का अजस्र स्रोत तथा जीव-दया की सर्वोच्च देवी के रूप में प्रसिद्ध हुईं। उस शताब्दी के महान साधक कवि **चन्द्रगोमिन्** ने तारा की जो स्तुति लिखी है (आर्या-तारा-देवी-स्तोत्र-मुक्तिका-माला-नाम) उसमें उनका इतना माहात्म्य निरूपित किया गया है कि उसे हम बेजोड़ ही कह सकते हैं।

आठवीं शताब्दी में आकर स्थिति और भी बदलती है, जब हम पाते हैं कि आठ प्रकार के भयों से रक्षा तो तारा के लिए एक साधारण बात है, वे तो सनातन मुक्ति प्रदान करनेवाली **सर्वप्रधान शक्ति** हैं। आगे चलकर हम यह भी देखते हैं कि तारा **प्रज्ञा** और **मुक्ति** की देवी के रूप में ही अपना अन्तिम स्वरूप धारण करती हैं। उनके रूप तो आगे अवश्य ही बदले, पूजा-पद्धति भी बदली किन्तु उनकी शक्ति यथावत मानी जाती रही।

आठवीं शताब्दी तथा इसके आगे की सदियों में तारा के सम्बन्ध में प्रचलित मान्यताओं का यदि हम विश्लेषण करें तो पाएँगे कि उच्च कोटिस्थ दार्शनिक तथा साधक-समाज में तो वे प्रज्ञा और मुक्ति की देवी थीं किन्तु आम जनता उन्हें सांसारिक भयों से रक्षा करनेवाली देवी के रूप में पूजती थी। **लामा तारानाथ** ने अपनी तारा-स्तुति में यह व्यक्त भी किया है कि प्राणी का मूल भय तो संसार-बन्धन है, जिससे रक्षा प्रज्ञा और मुक्ति ही कर सकती है, यह और बात है कि लोगों को इतनी दूर तक दिखाई नहीं पड़ता।

इन परिस्थितियों का अवलोकन करते हुए **मार्टिन विल्सन** कहते हैं–

"Even in medieval India, only a tiny fraction of the people were really serious about seeking Liberation from Samsara. The amazing popularity of Tara's cult was due to the worldly benefits She offered-above all, she was famous for saving from the eight great fears. She appealed especially to the merchants, Who in their travels were often exposed to these dangers."

मध्यकालीन भारत में तो तारा-पूजन की यह स्थिति हम देखते हैं, आज इक्कीसवीं शताब्दी के आधुनिक भारत में तो स्थिति और भी अधिक विकट है। भोली-भाली 'बेचारी' जनता तथ्य और यथार्थ से तो आज इतनी दूर आ गई है कि पूछिए मत। मुक्तिदात्री इस करुणामयी के ठीक सामने साल में हजार-डेढ़ हजार

निरीह पशुओं की बलि गला काटकर दी जाती है और लोग यह विश्वास रखते हैं कि देवी उनका कल्याण करेंगी। बुद्ध की करुणा को लेकर अवतरित देवी को यह भला मान्य हो सकता है क्या?

ज्ञात हो कि तांत्रिक पूजा-पद्धति को हमेशा से गुप्त रखने की परिपाटी रही है। इसे 'गुह्य-विद्या' कहा जाता रहा है। न केवल पद्धति अपितु देवता को भी गुह्य रखा जाता रहा है। यह सकारण था। साधारण लोग, जिसे तन्त्र में 'पशु-वर्ग' कहा जाता है, गुह्य-विद्या के मर्म को नहीं समझ सकते। तन्त्र में प्रयुक्त की जानेवाली प्रतीकात्मक शब्दावलियों को वे अभिधार्थ में ग्रहण कर लेते हैं। यह अनेक प्रकार से अनर्थ का कारण बनता है।

मध्यकाल में भी, तारा-साधना को लेकर जो भेड़िया-धसान प्रवृत्ति देखने को मिलती है, उसका समाधान भी तो अनेकानेक सिद्धों ने कर दिया था। **दलाई लामा प्रथम** ने तारा पर लिखी अपनी सुप्रसिद्ध स्तुति में स्पष्ट किया है कि जिन आठ प्रकार के भयों से मुक्ति के लिए तारा विहित हैं वे व्याघ्र आदि सांसारिक जीव नहीं हैं, इन सबका आश्रय तो प्रतीक के रूप में लिया गया है। वे आठ हैं वस्तुतः- अहंकार, **विभ्रम**, **क्रोध**, **ईर्ष्या**, **दुर्भावना**, **धन-लोलुपता**, **मोह** और **संशय**। इन सबकी बलि तारा के समक्ष चढ़ानी चाहिए।

अस्तु! तारा को प्रज्ञा की सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ माना गया और वज्रयान की परम्परा में उन्हें **'सभी बुद्धों की माता'** के रूप में स्वीकार किया गया। तारा-सम्बन्धी मान्यता का यह उच्चतम निदर्शन था। शास्त्रों में उल्लेख पाए जाते हैं कि चूँकि अब तक जितने भी बोधिसत्व और बुद्ध हुए हैं और आगे जो भी होनेवाले हैं, उन सबों की माता तारा हैं, क्योंकि प्रज्ञा और करुणा ही बुद्धों का मूलमन्त्र होता है, तारा इस प्रज्ञा और करुणा की सनातन स्रोत हैं।

हमें तारा की साधना क्यों करनी चाहिए, इस सम्बन्ध में बौद्ध परम्परा कहती है कि हम जन-साधारण संसारी जीव भी अन्ततः एक **'संभावित बुद्ध'** ही हैं। हम सभी में वे सारी संभावनाएँ मौजूद हैं कि आनेवाले दिनों में हम भी एक बुद्ध होंगे। लेकिन वह दिन कब आएगा? वह दिन आज भी आ सकता है और उसके आने में अनेकानेक जन्म-जन्मान्तर भी लग सकते हैं। हमारी माता तारा हैं, जो आज भी हैं और उस दिन भी होंगी जब हम बुद्ध होंगे। उनका आश्रय और उनकी साधना उस आनेवाले दिन की दूरी को कम करती है। अब यह हमारे समर्पण-भाव और साधना की त्वरा पर निर्भर करता है कि यह दूरी कितनी घटेगी।

(2) **मातृतत्त्व** : यह हम स्पष्ट देख सकते हैं कि ऋग्वेद से लेकर पुराणों तक में मातृदेवी के जितने भी तत्त्व निरुपित हुए, उन सबका समाहार

बौद्ध-परम्परा ने तारा के रूप में किया है। एक ही तारा हैं, जो सभी कुछ हैं। **लामा येशे** का एक वचन इस सन्दर्भ में बड़ा ही अनूठा है। वे कहते हैं- 'यदि आप तारा की उपासना करते हैं तो उनकी हरित आभा में सृष्टि के सभी तत्त्व, प्रज्ञाएँ तथा दिव्य वाक् एक साथ पाएँगे। उनसे बाहर सृष्टि में कुछ भी नहीं है। भोजन का प्रत्येक ग्रास, जो आप ग्रहण करते हैं, तारा हैं। वायु का प्रत्येक अणु जो श्वास में ग्रहण करते हैं, उनकी ही दिव्य ऊर्जा से ओतप्रोत हैं। जिस घर में आप निवास करते हैं, वह तारा-गृह है और जहाँ भी कहीं आप शंयन करते हैं, आपका सिर सदा ही तारा की गोद में होता है।'

बौद्ध परम्परा में तारा को तीनों लोकों- अधोलोक, पृथ्वीलोक तथा स्वर्गलोक की **नियंत्रक महाशक्ति** माना गया है। इन तीनों का ही नियंत्रण उनके मातृतत्त्व के ही अंग हैं।

अधोलोक का तात्पर्य नरक तथा प्रेतलोक से है। तारा का पूर्ण प्रभुत्व इस लोक पर है। वे नरक के सूक्ष्म जीवों, प्रेतों, पिशाचों आदि से अपने उपासकों की रक्षा करती हैं। इसका तान्त्रिक भावार्थ यह समझना चाहिए कि अधोलोकीय विकृतियों यथा लोभ, मोह, मात्सर्य, द्वेष आदि से मुक्ति की चित्तदशा तारा उपलब्ध कराती हैं।

पृथ्वी के सभी जीव-जन्तु, पशु से लेकर वनस्पति-पर्यन्त, तारा की सन्तानें हैं। वह अपनी सन्तानों की रक्षा बिल्कुल ही मातृभाव से करती हैं। अपनी सन्तानों पर आई विपत्तियां का तुरन्त निवारण उनसे बेहतर और कोई नहीं कर सकता।

पृथ्वी-लोक में समस्वरता कायम रहे, इसके लिए कई बार वे विनाशक शक्ति बनकर दुष्टों का नाश भी करती हैं। लेकिन, उस तरह नहीं जैसा कि दुर्गा या काली करती हैं। तारा की विनाशक ऊर्जा-शक्ति अहिंसक है। उनके द्वारा मारे गए प्राणियों के शरीर से कभी रक्त नहीं बहता। इसका तात्पर्य यह समझना चाहिए कि जिस किसी को उन्हें मारना होता हैं, उनके भीतर वे दुर्बुद्धि उत्पन्न कर देती हैं, जिससे स्वत: ही वह अपने विनाश को प्राप्त कर लेता है। इस तरह देखें तो आज हम जिन मनुष्यों को दुर्बुद्धि से ग्रस्त देखते हैं, मानना चाहिए कि तारा उनका विनाश चाहती हैं।

विषय वस्तु का सूक्ष्म तात्पर्य हमें यह समझना चाहिए कि पृथ्वीलोक की निर्यत्रिका के रूप में तारा हमें संसार की विपत्तिकर परिस्थितियों से त्राण प्रदान करती हैं। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उच्च आध्यात्मिक सन्दर्भ में यह संसार सिर्फ एक प्रतिध्वनि है- जैसी ध्वनि हम छोड़ते हैं, वैसी ही ध्वनि हम तक वापस लौटती है। हम अगर कल्याणकारी आचरण करें तो प्रत्युत्तर में हमारा कल्याण

होता है। ऐसा नहीं है कि हम स्वयं तो समाज को नष्ट-भ्रष्ट करनेवाले आचरण करते रहें और कामना करें कि तारा हमारा कल्याण करेंगी। यह नहीं हो सकता। यह असंभव है। हो अन्ततः यही सकता है कि हम यदि किसी एक का कल्याण करें तो प्रतिध्वनि के रूप में किसी और की मारफत हमारा कल्याण हो। तारा प्रज्ञा की देवी हैं। वे हममें ऐसी बुद्धि भरती हैं कि हम कल्याणकारी जीवन की ओर बढ़ें।

तन्त्र में विपत्तिकर परिस्थितियाँ उन्हें कहा जाता है, जिनके कारण मनुष्य को पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है। आप सोच सकते हैं कि यह कितने उच्च स्तर की बात है और इसके समक्ष सांसारिक तुच्छताओं की बात करना कितना बेमानी है। तारातन्त्र का सिद्धान्त है कि दो ही मूल कारण हैं, जिनके कारण मनुष्य दूषित और पतित होता रहता है तथा सदैव मुक्ति से दूर रहता है। वे दो कारण हैं- **आकांक्षाएँ** तथा **अज्ञान**। तारा इन दोनों के ही निवारण की महाशक्ति हैं।

तारा ही स्वर्गलोक की भी नियंत्रिका हैं। स्वर्गलोक क्या है? बौद्धमत में स्वर्गलोक अतिमानवीय तथा अलौकिक शक्तियों के अस्तित्व से भरे जगत को कहते हैं। स्वर्ग कहीं अन्यत्र नहीं अपितु हमारे ही चतुर्दिक है। स्वर्गलोक की अशरीरी शक्तियाँ मनुष्य की तुलना में अधिक पवित्र तथा शक्तिशाली हैं। ये शक्तियाँ विद्युत् शरीर के रूप में होती हैं। कई जगहों पर इन्हें शुद्ध मानसिक शक्ति भी कहा गया है। स्वर्गलोक की नियंत्रिका होने के कारण तारा अपने उपासकों को अलौकिक शक्तियों के प्रति ग्रहणशील बनाती हैं। मानवीय शक्ति की एक सीमा है, जबकि स्वर्गिक प्राणियों की शक्तियाँ असीम होती हैं। मानवीय बुद्धि भी अत्यन्त सीमाबद्ध है। इस सीमा का अतिक्रमण तारा करती हैं। वह अपने उपासकों को स्वर्गिक चेतनाओं के साथ सम्पृक्त कर देती हैं, जिससे उसकी बुद्धि-क्षमता असीम हो जाती है। चेतना की चरम जागृति तारा प्रदान करती हैं, जिसके कारण उन्हें **वाग्देवी** या नील **सरस्वती** के रूप में जाना जाता है।

लोक-मान्यता यह है कि स्वर्ग पृथ्वी से सुदूर ऊपर किसी अन्य ग्रह-लोक पर है। यह मान्यता न केवल आज है, बल्कि प्राचीनकाल में भी थी। कहना न होगा कि इस लोक-मान्यता के पीछे अनुभव की सच्चाई नहीं है। यह थोथे पंडितों का वचन है, जिन्होंने कभी अनुभव नहीं किया कि वास्तव में स्वर्ग कहाँ है। अनुभूति की सच्चाई से भरे-पूरे सिद्धों की मान्यता कुछ और है। लेकिन, अधिसंख्य जनता आज की ही तरह पूर्वकाल में भी थोथे पंडितों के वचन पर विश्वास करके चलती थी। इसीलिए यह मान्यता प्रचलित हुई कि 'तारा' का नाम **तारा** पड़ा ही इसीलिए कि वह स्वर्गलोक की देवी हैं और आकाश ही उनका वास है। परवर्त्ती काल में तारा के रूप की जो छवि अंकित की गई, उसमें उन्हें बालचन्द्र

को मुकुट की तरह धारण करते हुए दिखाया गया। शास्त्रों में यह भी उल्लेख मिलता है कि तारा अपने उपासकों को स्वर्गलोक के वासियों से होने वाले हानिकारक दुष्प्रभाव से बचाती हैं।

(3) **तन्त्र-तत्त्व** : बौद्धतन्त्र, वज्रयान में सबसे उच्चपदस्थ तथा सर्वाधिक महाशक्तिमती देवी के रूप में तारा का विधान पाया जाता है। अपने शिष्य की सम्यक् सिद्धि की कामना रखनेवाला सद्‌गुरु उसे तारा-साधना की ही दीक्षा देता है। तारा से प्राप्त सिद्धि अनेकान्तगामी तथा बहुआयामी होती है। मान लीजिए कि किसी कमरे में सैकड़ों चीजें रखी हुई हैं लेकिन वहाँ घनघोर अन्धकार व्याप्त रहने के कारण वे चीजें दिखाई नहीं पड़तीं। यदि हम प्रकाश की व्यवस्था कर लें तो एक ही साथ वे सैकड़ों चीजें दृष्टिपटल पर चली आती हैं। प्रकाश बारी-बारी से वस्तुओं को प्रकाशित नहीं करता बल्कि एक ही बार में सभी को प्रकाशित कर देता है। इसी प्रकार की प्रक्रिया तारा-साधना से प्राप्त सिद्धि के साथ होती है, ऐसा कहा गया है।

बौद्ध-परम्परा के अनुसार कोई देवता, जिसकी तान्त्रिक पूजा की जाती हो, की प्रधान योग्यता यह निर्धारित है कि उस देवता को पूर्ण बुद्धत्व की प्राप्ति हो चुकी हो। ज्ञात हो कि तारा की जब तान्त्रिक विधि से पूजा की जाती है तो सबसे पहले अनेकानेक नामधारी बुद्ध की पूजा होती है। तत्पश्चात ही तारा की पूजा-प्रक्रिया आरम्भ होती है।

तारा एक तान्त्रिक देवी हैं, इसका पहला ही तात्पर्य यह है कि उन्हें पूर्ण बुद्धत्व प्राप्त है। न केवल इतना ही, बल्कि तारा की सर्वोच्च महिमा तो इस बात में निहित है कि अपनी छत्र-छाया में आनेवाले साधकों को वे पूर्ण बुद्धत्व की प्राप्ति करा देने में पूर्ण सक्षम हैं।

हम देख सकते हैं कि वज्रयान के विकास का एक लंबा काल-क्रम रहा है। प्रारंभिक अवस्था में जहाँ तारा की मान्यता **बोधिसत्व** रूप में थी, वहीं अपने पूर्ण विकास को पाने के उपरान्त वज्रयान ने उन्हें **पूर्ण बुद्धत्व-प्राप्त देवता** के रूप में पूजा। आज हमें कदाचित यह विरोधाभास पूर्ण लग सकता है कि कैसे एक ही देवी बोधिसत्व भी हैं और बुद्ध भी। लेकिन हमें याद रखना चाहिए कि थोड़े से कालखण्ड में ही तारा-साधना ने इतनी अधिक संख्या में साधकों को सिद्धि प्रदान की कि उनकी महिमा सतत ही व्यापक होती गई। उनके इसी माहात्म्य के कारण उन्हें 'उग्रतारा' भी कहा गया। वे अधिकाधिक प्रशस्त होती गईं। सातवीं शताब्दी के पूर्वभाग तक जो देवी **बोधिसत्व** के रूप में पूजित थीं, वही आठवीं शताब्दी के मध्य भाग तक आते-आते **पूर्ण बुद्ध** मानी गईं और वज्रयान के सर्वोच्च देवता

के आसन पर विराजमान हुईं। उन्हें **'सभी बुद्धों की माँ'** निरूपित किया गया।

अपने बोधिसत्व-रूप में भी तारा देवी-रूप में पूज्य थीं। इसका कारण यह समझना चाहिए कि उनमें एक विराट विशेषता थी, जो अन्यत्र प्राप्त नहीं होती। बोधि सत्व-रूप में तारा ने अपने बुद्धत्व-प्राप्ति का प्रयास किया ही नहीं अपितु संसार के विविध प्राणियों के कल्याण के लिए निरन्तर सक्रिय रहीं। उन्होंने दूसरे-दूसरे लोगों को बुद्धत्व-प्राप्ति का मार्ग निर्देशित किया और अपने आपके हित के बदले दूसरे का हित-साधन बनीं। यहाँ यह विचारना चाहिए कि जब कोई व्यक्ति दूसरों का कल्याण कर रहा होता है तो क्या स्वयं अपना भी कल्याण, प्रकारान्तर से, नहीं करता? दूसरों को बुद्धत्व मार्ग पर अग्रसर करनेवाला क्या खुद भी बुद्धत्व के निकट-दर-निकट नहीं आता जाता?

तारा-तत्त्व पर विचार करनेवाले मनीषियों ने खास तौर पर उनकी दो विशेषताओं का महिमा-मंडन किया है–

(1) बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद तारा का निर्वाण कोई सामान्य कोटि का निर्वाण नहीं है। विविध प्राणियों के कल्याण के लिए किए जानेवाले उनके कार्य निर्वाण के साथ समाप्त नहीं हुए। उनका निर्वाण मानव-जगत के साथ उनके सम्बन्धों की इतिश्री नहीं है।

(2) सनातन बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद भी तारा ने सांसारिक जीव जगत में निरन्तर सक्रिय बने रहने का मार्ग चुना। अपनी इस सक्रियता को बरकरार रखने के लिए वे पूर्ण बुद्धत्व के समस्त अधिकारों तथा शक्तियों का प्रयोग करने से कभी नहीं चूकतीं।

अस्तु! वज्रयान की एक परम्परा में तारा को **'कर्म-देवी'** का स्थान दिया गया है। ज्ञात हो कि सिद्धियों के प्रक्रम के अनुरूप देवताओं के कार्य-क्षेत्र, उनकी विशेषज्ञता के अनुसार निर्धारित करने की प्रथा वहाँ भी रही है। कर्म-देवताओं के प्रधान यूँ तो अमोघसिद्धि को माना जाता है, किन्तु वज्रयान के प्रायः सभी आन्तर सम्प्रदायों में तारा को कर्मदेवी का स्थान प्राप्त है।

प्रसंगवश, यहाँ हम वज्रयान के आन्तरिक सम्प्रदायों पर थोड़ा प्रकाश डालना चाहेंगे। बौद्धमत, हम जिसे महायान के नाम से जानते हैं, उसका एक बड़ा ही व्यापक संसार है। पहले तो उसके नौ आन्तरिक सम्प्रदाय हैं, फिर प्रत्येक सम्प्रदाय के चार-चार अंग हैं। इन अंगों को **दृष्टिपाद, ध्यानपाद, चर्यापाद** और **फलपाद** नाम दिए गए हैं। इनमें से प्रथम तो शुद्ध रूप से दार्शनिक तत्त्वों का आख्यान करता है और शेष तीन अपने-अपने तरीके से शास्त्र को ध्यान और आचार में उतारने का उपाय स्पष्ट करते हैं। इस बात के लिए प्रभूत चेष्टा की गई है कि प्राप्त की गई दृष्टि की सार्थकता तभी है जब वह हमारे आचार के द्वारा पुष्ट हो।

दृष्टि को आचार में उतारने के उपायस्वरूप वज्रयान की अवधारणा की गई, जिनके विविध प्रभाग हैं यथा- **क्रियातन्त्र यान, उपाय तन्त्रयान, योगतन्त्रयान**

आदि। जिन्हें आज हम 'बौद्ध-तन्त्र' के रूप में जानते हैं, वे मुख्यत: वज्रयान के निम्नांकित तीन सम्प्रदाय हैं–

(1) **महायोग तन्त्रयान**

(2) **अनुत्तर तन्त्रयान**

(3) **अतियोग तन्त्रयान**

ये तीनों शुद्धरूप से तान्त्रिक सम्प्रदाय हैं। इन तीनों का आपसी भेद यही है कि महायोगतन्त्रयान में पुरुषभाव से बोधिचित्त की भावना की जाती है अत: यह पितृ प्रधान है। अनुत्तर तन्त्रयान में अद्वैतभाव से बोधिचित्त की भावना की जाती है तथा इसे बौद्धतन्त्र का सर्वोच्च प्रक्रम माना जाता है।

कहना न होगा कि अनुत्तरतन्त्र यान तो तारा तन्त्र का प्ररूप हैं ही, शेष सम्प्रदायों में भी 'कर्मदेवी' के रूप में तारा को अतुलनीय स्थान प्राप्त है। कर्म का एक अर्थ तान्त्रिक क्रियाकाण्ड भी है। किसी क्रिया को निर्विघ्न सम्पन्न करने के लिए, विघ्न-बाधाओं से मुक्ति के लिए तारा-पूजन का विधान है। शाक्त साम्प्रदायिक मिथिला में गणेश-पूजन की प्रथा से हम इसे समझ सकते हैं। तान्त्रिक क्रियाकाण्डों में अचूक रूप से त्वरित सिद्धि-लाभ के लिए तारा को विशेषज्ञता प्राप्त है।

तारा की विशिष्टता के सम्बन्ध में युग-युग से यह बात प्रचलित रही है कि बगैर किसी क्रिया-काण्ड के भी यदि उन्हें पुकारा गया तो वे तुरन्त उपस्थित होकर कष्टों का शमन करती हैं। तान्त्रिक सम्प्रदायों में यह प्रसिद्धि है कि यदि इतनी तीव्र विपत्ति आ गई हो कि विधानपूर्वक तारा-पूजन नहीं किया जा सके तो उनका बीज मन्त्र मात्र उच्चरित कर लेने-भर से विपत्ति का नाश हो जाता है। यहाँ तक प्रसिद्धि है कि विपत्ति यदि इतनी तीव्र हो कि उनके बीज मन्त्र के सभी अक्षर भी समयाभाव में उच्चरित न किए जा सकें तो 'ॐ ताम् स्वाहा' मात्र उच्चरित करने से या फिर हृदय में उनकी भावना-मात्र करने से विपत्ति का नाश हो जाता है।

उनकी इन्हीं विशेषताओं का आख्यान करते हुए तन्त्र-ग्रन्थों में स्वयं उन्हीं के श्रीमुख से कहलवाया गया है–

विना ध्यानं विना जाप्यं विना पूजादिभिः प्रिये।
विना बलिं विनाभ्यासं भूतशुद्ध्यादिभिर्विना॥
विना क्लेशादिभिर्देवि! देहदुःखादिभिर्विना।
सिद्धिराशु भवेद्यस्मात् तस्मात्सर्वोत्तमा मता॥

अर्थात् विना ध्यान, जप, पूजा, बलि, अभ्यास, भूतशुद्धि, देहदुख, क्लेश उठाए ही चूँकि इनकी सिद्धि हो जाती है अत: इन्हें सर्वसिद्धियों में सर्वोत्तम स्थान प्राप्त है।

तारा के विविध रूप-स्वरूप

पूर्व के विवरणों में हम यह देख आए हैं कि तारा की अवधारणा तथा उपासना का विकास अनेक शताब्दियों तक होता रहा। उनकी शक्तियाँ भी कालान्तर में अधिकाधिक बढ़ती गईं। साधकों के बड़े समुदाय ने उनकी साधना विविध कामनाओं से की तथा उन्हें सिद्धियाँ प्राप्त हुईं। 'जाकी रही भावना जैसी' के दृष्टिकोण से हम देखें तो पाएँगे कि उन साधकों ने अपनी-अपनी भावनाओं के अनुरूप तारा की छवि हृदयांकित की। सिद्धि पा लेने के उपरान्त उनके अनुयायिगण उस छवि-विशेष के उपासक हुए और इस प्रकार तारा का एक रूप-विशेष उपासना-प्रक्रम में शामिल हुआ। आगे भी यह परिस्थिति चलती रही।

इस प्रकार, सहज ध्यान और सहज उपासना से द्रवीभूत होने वाली इस महादेवी के अनेकानेक रूप-स्वरूप का विवरण हमें अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। यहाँ हम उनके कुछ परम प्रसिद्ध रूपों का विवरण प्रस्तुत करते हैं-

(1) संस्कृत कवि **मातृचेट** ने सबसे पहले आर्या तारा की वन्दना में स्तोत्र की रचना की। इतिहासकार मातृचेट को **कनिष्क** का समकालीन बताते हैं। उनके सम्बन्ध में विवरण मिलता है कि **मातृचेट** ब्राह्मणवंश में उत्पन्न विशिष्ट शिवोपासक पंडित थे। नालन्दा के बौद्ध केन्द्र में शास्त्रार्थ में पराजित होकर वे बौद्ध संघ में समाविष्ट हो गए। उनके सम्बन्ध में यह विशिष्ट ख्याति है कि भूखी बाघिन को दयावश उन्होंने अपना शरीर अर्पित कर दिया था। संस्कृत वाङ्मय में मातृचेट स्तोत्र-साहित्य के आदि प्रवर्त्तक माने जाते हैं। **'चतुःशतक'** तथा **'अध्यर्धशतक'** उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं, जो **महापंडित राहुल सांकृत्यायन** ने अतिपरिश्रम से तिब्बत के विहार से प्राप्त किया था। उनकी अन्य ग्यारह रचनाएँ बताई जाती हैं, जिनमें से कोई भी आज संस्कृत में उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन तिब्बती भाषा में ये सभी रचनाएँ उपलब्ध हैं।

उल्लेखनीय है कि स्तोत्र-साहित्य के इस महान प्रवर्त्तक ने 'आर्य तारा देवी सर्वार्थसाधन नाम स्तोत्रराज' शीर्षक स्तोत्र की रचना की। प्रतीत होता है कि यह स्तोत्र इतना फलदायी साबित हुआ कि इसे 'स्तोत्र' नहीं, 'स्तोत्रराज' कहा गया। दुःख है कि यह आज हमें मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं है। इसका तिब्बती-भाषारूप तथा अंग्रेजी अनुवाद देखने का सुयोग मुझे प्राप्त हुआ।

भगवती तारा के सम्बन्ध में यह प्रथम लिखित विवरणिका हमें प्राप्त होती

है। इस 'स्तोत्रराज' में तारा के अनेक रूप बताते हुए उनकी अभ्यर्थना की गई है। उनके नामरूपों का अवलोकन किया जाय–

(1) **वज्रतारा** को प्रणिपात निवेदित। -(2) **रत्नतारा** को प्रणिपात निवेदित। (3) **पद्मतारा** को प्रणिपात निवेदित। (4) **कर्मतारा** को प्रणिपात निवेदित। (5) **धूपतारा** को प्रणाम। (6) **पुष्पतारा** को प्रणाम। (7) **दीपतारा** को प्रणाम। (9) **अंकुशतारा**, आपको नमस्कार। (10)**पाशतारा**, आपको नमस्कार। (11)**स्फोटतारा**, आपको नमस्कार। (12) **घण्टातारा**, आपको नमस्कार।

तारा-विषयक प्राचीनतम स्तोत्र में ही हमें उक्त बारह रूपों के दर्शन होते हैं। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि आगे उनके और कितने रूप प्रसिद्धि प्राप्त किए होंगे। यहाँ हमें भक्त की भावनात्मक प्रणति का चरमोत्कर्ष दीख पड़ता है। वह देवी, जिनकी प्रार्थना की जा रही है, स्वयं तो तारा हैं ही, उनके सारे अंगोपांग भी तारा हैं, उनके आयुध, उनके वस्त्रालंकार भी तारा हैं। उन्हें जो पुष्प अर्पित किया जाता है वह भी तारा, धूप-दीप-गन्ध-स्तुति सभी स्वयं भी तारा हैं और तारा को ही समर्पित हैं। 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' की कितनी सुस्पष्ट झांकी इसमें दिखाई पड़ रही है! आज भी तारा-पूजन का जो रूप तांत्रिकों में प्रचलित है, उसमें अन्य सभी कुछ के साथ-साथ स्वयं साधक भी तारा-भाव में हुआ करता है, और वह जब स्वयं अपने मुख में अर्घ्य समर्पित करता है तो इस मन्त्र के साथ कि अमुक वस्तु तारा देवी को समर्पित, स्वाहा।

आगे, हम यह बताते चलें कि तारा-तत्त्व-विकास पर भली-भाँति शोध कर चुके आधुनिक विद्वानों ने भगवती तारा के चार परिवारों का उल्लेख किया है-

(1) वज्रतारा (Tara of the vajra family)

(2) रत्नतारा (Tara of the Jewel family)

(3) पद्मतारा (Tara of the Lotus family)

(4) कर्मतारा (Tara of the action family)

इन चार परिवारों के अन्तर्गत ही उनके अन्य सभी रूपों का समाहार हो जाता है। **मार्टिन विल्सन** ने अपनी पुस्तक में इस विषय पर सम्यक् प्रकाश डाला है। उनका कथन है कि आचार्य **मातृचेट** द्वारा वर्णित तारा देवी के बारहों रूप जगत कल्याणकारी हैं। इन सभी देवियों के दो-दो हाथ हैं, जिनमें वे अपना-अपना प्रतीक चिह्न धारण करती हैं।

(2) **मार्टिन विल्सन** ने तारा के एक एक ऐसे रोचक रूप का भी उल्लेख किया है, जो हमें कदाचित् आश्चर्यजनक लग सकता है। उन्होंने **चॉक**

लोत्साव, जो कि 1234-1236 के बीच यात्रा पर आए थे, और जिनका उल्लेख स्वयं **धर्मस्वामिन्** की जीवनी में भी आया है, के द्वारा वर्णित एक संस्मरण प्रस्तुत किया है।

उनके अनुसार, एक '**हुलु-हुलु तारा**' या '**हा हा तारा**' (हास्यमयी तारा) भी हैं, जो अनेक चमत्कारी शक्तियों से पूर्ण हैं। उनका रूप भी अद्भुत है। अपने दायें हाथ से वह अपने मुख को ढँकने का प्रयास कर रही हैं तथा बेतहाशा हँसी जा रही हैं। इस रूप में उनकी उत्पत्ति कब हुई, इस विषय में प्रसिद्धि है कि जब मार ने पूर्ण बुद्धत्वरूप ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में अड़चन डालना शुरू किया तो मार के बचकाने प्रयास पर वह हँसने लगीं। आशय यह है कि जगदम्बा के द्वारा निर्धारित भवितव्य पर जब कोई दुष्ट शक्ति बाधा डालने का प्रयास करती है तो उन्हें हँसी आती है और उनका यह रूप तिब्बत में '**हुलु हुलु तारा**' के नाम से प्रसिद्ध है।

एक अन्य कथा यह प्रसिद्ध है कि एक दुष्ट आत्मा ने किसी सद्पात्र व्यक्ति को बेवजह सताना आरम्भ किया। किसी भी तरह से जब उसे उस दुष्टात्मा से मुक्ति न मिली तो उसने तारा का ध्यान किया और आर्त्त होकर पुकारा- 'तारा! तारा!!' कथा है कि पलक झपकते ही तारा वहाँ प्रकट हुईं। उनका वह रूप अद्भुत था। वे 'हा हा हा' कर अट्टहास कर रही थीं। दुष्ट का नाश तो हुआ ही, कहते हैं कि जिस स्थान पर वह प्रकट हुई थीं, अपने भक्त का त्राण कर वे वहीं प्रस्तर-मूर्त्ति बन गईं। यह देवी '**हा हा तारा**' के नाम से आज भी जानी जाती हैं।

इसी प्रकार, डी. सी. भट्टाचार्य ने अपनी सुप्रसिद्ध प्रस्तक 'The Indian Buddhist Iconography' में तारा का प्राचीनतम रूप '**सहस्रबाहु तारा**' को माना है। उन्होंने दिखाया है कि सहस्रबाहु के रूप में वर्णित महामाया विजयवाहिनी, तारा का ही विराट रूप है, जिसमें उन्हें ब्राह्मणधर्म की दुर्गा या चण्डी के समान युद्ध और संघर्ष में विजय प्रदान करनेवाली देवी माना गया है।

ज्ञात हो कि विद्वानों का एक समूह इसी रूप-छवि के कारण तारा को दुर्गा या चण्डी का बौद्ध संस्करण मानते हैं लेकिन अधिकांश जानकारों के मत में तारा स्वतंत्र रूप से एक बौद्ध देवी हैं जिनकी अवधारणा बौद्ध-भित्ति पर खड़ी है।

अस्तु, सहस्रबाहु तारा के सम्बन्ध में प्राप्त विवरण के अनुसार उनके एक हजार मुख हैं तथा इसके दुगुने हाथ हैं। वे स्वयं आदिबुद्ध के द्वारा पूजित हैं। बौद्ध ग्रन्थों में उन्हें हजारों बौद्ध देवियों तथा मातृकाओं के द्वारा वन्दित बताया गया है-
सर्वदेव नमस्कृते मातृगणपूजिते वन्दिते स्वाहा।

बुद्ध-भेद से तारा के विविध भेद

बौद्ध साधना-पद्धति के ज्ञाता जानते होंगे कि बौद्ध-मत में सृष्टि के उद्गम के मूल में, विश्वपिता और विश्वमाता के रूप में **आदि बुद्ध** या **वज्रधर** तथा **आदिप्रज्ञा** या **प्रज्ञा पारमिता** की अवधारणा की गई है। इसे पुरुष व प्रकृति समझा जा सकता है।

इन्हीं आदिबुद्ध के साथ-साथ **ध्यानी बुद्ध** की अवधारणा समक्ष आती है। ध्यानी बुद्ध ऐसे व्यक्तित्व हैं, जिन्हें बोधिसत्व की स्थिति से नहीं गुजरना पड़ता है। ध्यानी बुद्ध शाश्वत हैं और स्वर्ग में सतत ध्यानावस्थित रहते हैं। ध्यानी बुद्धों की संख्या पाँच है। ये पाँचों सदैव ध्यान में ही लगे रहते हैं और संसार के व्यापार में इनका कोई योगदान नहीं होता। इन ध्यानी बुद्धों की अपनी-अपनी शक्तियाँ निर्धारित हैं तथा इनके कार्य सम्पादन के लिए अलग-अलग बोधिसत्व भी विहित हैं।

डॉ॰ नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी ने अपनी पुस्तक में पाँचों ध्यानी बुद्धों के देव-परिवार को अत्यन्त ही स्पष्टतापूर्वक चार्ट के माध्यम से दर्शाया है। उन्होंने कहा है कि बौद्धों के यहाँ देवियों की संख्या बहुत बड़ी है और कौन किसकी शक्ति है, इसका निर्णय अत्यन्त जटिल है। कुछ देवियाँ बोधिसत्वों के समान स्तर पर सम्मान पाती हैं। वे भी ध्यानी बुद्धों से ही उद्भूत हैं। इनमें तारा का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। ये ताराएँ भी पाँच वर्णों की हैं, जो एक-एक बोधिसत्व से सम्बद्ध हैं।

यहाँ हम पाँच ध्यानीबुद्ध तथा उनकी शक्तियों का विवरण प्रस्तुत करते हैं–

(1) **वैरोचन** : (1) श्वेततारा
(2) उष्णीषविजया
(3) जांगुली तारा
(4) मारीचि

(2) **अक्षोभ्य** : (1) नीलतारा
(2) एकजटा

(3) **रत्नसंभव** : (1) पीततारा
(2) वसुधारा
(3) वज्रतारा

(4) **अमिताभ** : (1) रक्त तारा
(2) कुरुकुला
(3) सितातपत्रा
(4) भृकुटि

(5) **अमोघसिद्धि** : (1) हरित तारा
(2) पर्णशबरी

ध्यानीबुद्ध **वैरोचन** धर्मचक्र-प्रवर्त्तन-मुद्रा में अवस्थित पाए जाते हैं। उनका वर्ण श्वेत है। उनका प्रतिनिधिक तत्त्व आकाश है, जिसकी अभिव्यक्त मात्रा शब्द है। इनका परिवार ध्यानी बोधिसत्व समन्तभद्र, मानुषी बुद्ध क्रकच्छन्द के साथ-साथ ऊपर उल्लिखित चार तारा-शक्तियों से मिलकर बना है।

इसी प्रकार, ध्यानी बुद्ध **अक्षोभ्य** भूमिस्पर्श-मुद्रा में पाए जाते हैं। आप अवगत होंगे कि महिषी के मनुआं नदी से बुद्ध की जो सर्वोत्कृष्ट मूर्त्ति प्राप्त हुई थी, जो न केवल सहरसा प्रमंडल में बल्कि समूचे बिहार में बुद्ध की सुन्दरतम मूर्त्तियों में से एक है, यह मूर्त्ति भूमिस्पर्श मुद्रा में अवस्थित है। अक्षोभ्य का वर्ण नीला है, उनकी विहित दिशा पूर्व है। अक्षोभ्य का प्रातिनिधिक तत्त्व वायु तथा इसकी अभिव्यक्त मात्रा स्पर्श है। अक्षोभ्य के परिवार में ध्यानी बोधिसत्व वज्रपाणि, मानुषी बुद्ध कनकमुनि तथा दो तारा-शक्तियाँ– एकजटा तथा नीलतारा या नीलसरस्वती अवस्थित हुआ करती हैं।

उपर्युक्त के ही समान ध्यानी बुद्ध **रत्नसंभव** वरद मुद्रा में होते हैं। उनका वर्ण नीला, दिशा दक्षिण, तत्त्व अग्नि, मात्रा रूप हुआ करता है। **अमिताभ** बुद्ध समाहित ध्यान-मुद्रा में हुआ करते हैं। उनका वर्ण लाल, दिशा पश्चिम-तत्त्व जल तथा मात्रा रस बताया गया है। **अमोघसिद्धि** अभय मुद्रा में स्थित रहते हैं, जिनका वर्ण हरा, दिशा उत्तर, तत्त्व पृथ्वी, मात्रा गन्ध हुआ करती है। रत्नसंभव के बोधिसत्व रत्नपाणि तथा मानुषी बुद्ध काश्यप हैं। अमिताभ के बोधिसत्व अवलोकितेश्वर तथा मानुषी बुद्ध गौतम हैं तथा अमोघसिद्धि के बोधिसत्व विश्वपाणि तथा मानुषी बुद्ध मैत्रेय हैं। ये सभी अपनी-अपनी जिन तारा-शक्तियों के साथ बहुजनहिताय अवस्थित हुआ करते हैं, उनकी सूची ऊपर उल्लिखित की जा चुकी है।

रंग-भेद से तारा के विविध रूप

तारा-साधना के इतिहास में एक रोचक बात हमें यह मिलती है कि कार्य-प्रकृति के अनुरूप उनके अनेक स्वरूप तो निरूपित किए ही गए, दो बाँह वाली से लेकर हजार-हजार बाँहोंवाली विविध तारा-रूपों की परिकल्पना की गई। इससे भी अधिक रोचक यह है कि ये सभी ताराएँ न केवल अपने रूप में अलग-अलग हैं, बल्कि उनके रंग भी अलग-अलग हैं। रंगों के मनोविज्ञान का बड़ा ही अनूठा रूप हमें तारा-साधना-पद्धति में देखने को मिलता है।

हम पहले भी कह आए हैं कि स्थान-काल-पात्र-भेद से तारा के विविध रूप प्रकाश में आए। जिस भक्त की जैसी भावना थी, उन्होंने तत्सदृश रूप और रंग में तारा को पाया। इसे हम एक ही महाशक्ति के विविध आयाम कह सकते हैं, जो भक्त के मनोविज्ञान के अनुरूप अपना रंग ग्रहण करता है।

हमारे पाठक अवगत हैं कि प्रकृति में पाए जानेवाले सभी रंगों का मानव-मन पर एक ही जैसा प्रभाव नहीं पड़ता। कुछ रंग शामक प्रकृति के होते हैं तो कुछ उत्तेजक होते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोग से यह सिद्ध किया है कि गहरे लाल रंग से पुताई किए गए कमरे में यदि कोई व्यक्ति निरन्तर निवास करे तो उसमें हत्या या आत्महत्या की प्रवृत्ति जगने लगती है। अस्तु, तारासाधना-पद्धति में यह विधान किया गया मिलता है कि साधक जिस प्रकृति के इष्ट के लिए संकल्प करे, उसे तत्सदृश रंग की तारा का पूजन करना चाहिए। तन्त्र के विधान-ग्रन्थ **'साधन-माला'** में विविध रंग की तारा का न केवल विधान किया गया है अपितु उनके अपने परिवार के साथ उनकी पहचान भी निरूपित की गई है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि अपने देश के विभिन्न भागों में तारा की जो हजारों मूर्त्तियाँ विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुई हैं, वे या तो काले पत्थर की बनी हैं या फिर धातु की। वे साधक जब इनकी पूजा करते थे तो फिर रंग का निर्णय किस प्रकार कर पाते होंगे क्योंकि प्रस्तर मूर्त्तियों को अलग से रंगने की कोई परम्परा तो थी नहीं। इसका सहज समाधान यह है कि मूर्त्तियों में उत्कीर्ण लक्षणों के आधार पर इसका निर्णय किया जाता था। और, इतना ही क्यों? हर तीर्थ की अपनी एक सुस्थापित परम्परा होती थी, जो भले ही आम लोगों के लिए गुह्य हो लेकिन सुपात्रों को इसकी भली-भाँति जानकारी हुआ करती थी।

यहाँ हम यह भी बताते चलें कि तारा-साधना के मूल केन्द्र **महाचीन** (तिब्बत) में मूर्त्तियों के साथ-साथ तारा का चित्र बनाने की परम्परा भी न केवल पूर्व में थी बल्कि आज भी है। वे साधक तारा-साधना चित्रों के समक्ष करते हैं, जो बहुरंगी हुआ करते हैं और जिनमें अपनी इष्ट देवी का रंग बड़े ही आराम से दर्शाया जा सकता है। **मार्टिन विल्सन** ने अपनी पुस्तक के मुख पृष्ठ पर तो हरित तारा के मूल तिब्बती पेटिंग को प्रकाशित किया ही है, तिब्बत के विभिन्न स्थानों पर पूजित तारा के अन्य आठ पेंटिग को बहुरंगी प्लेट पर प्रकाशित किया है। इसमें हम उनके रंग-विधान का भली-भाँति अवलोकन कर सकते हैं। इन्टरनेट पर विविध रंगों की तारा की हजारों तस्वीरें उपलब्ध हैं, जिन्हें भी देखा जा सकता है।

तिब्बत में तारा-साधना के अद्यतन विधान तथा प्रारूप के सम्बन्ध में एक अन्य लेखक **स्टीफन बेयर** ने अपनी पुस्तक 'मैजिक एंड रिचुअल्स इन तिब्बत-द कल्ट ऑफ तारा' में बड़े ही तथ्यसंगत तरीके से वर्णन किया है। बेयर ने तिब्बती लामाओं के साथ वर्षों रहकर चक्रपूजा का बारीक से बारीक अध्ययन किया, और बड़ा ही अनूठा व जीवन्त दृश्य अपनी पुस्तक में अंकित किया है। वे बताते हैं कि तारा-साधना में आज भी अभीत्सित लक्ष्य के अनुरूप देवी का रंग निर्धारित होता है। सृष्टि, पोषण तथा लय के लिए सामान्यत: तिब्बती लामा क्रमश: श्वेत, हरित तथा नील तारा की उपासना करते हैं।

अस्तु! तारा-तन्त्र के अद्यतन विकास के क्रम में जिन प्रमुख तारा का विधान मिलता है, उनका विवरण इस प्रकार है—

(1) **श्वेत तारा** : एक परम्परा के अनुसार श्वेततारा दिन का प्रतीक हैं जबकि हरित तारा रात्रि का। दूसरी परम्परा के अनुसार श्वेत तारा सृष्टि एवं निर्माण की अधिष्ठात्री हैं। श्वेत तारा को पवित्रता एवं ज्ञान की आदिजननी माना जाता है। **'साधनमाला'** में श्वेत तारा के सात रूप निरूपित किए गए हैं—

(1) अष्ट महाभयहारिणी (2) मृत्युवंचना (3) चतुर्भुजा (4) षड्भुजा (5) विश्वमाता (6) कुरुकुला (7) जांगुली तारा।

इन सात देवियों में से कुछ की मूर्त्तियाँ अपनी सहायक देवियों के साथ मिलती हैं, जिनमें से कुछ में उन्हें चक्रधारिणी रूप में भी दिखाया गया है। चतुर्भुजा देवी के चारों हाथ क्रमश: कमल, अक्षमाला, मुद्रा एवं वरद स्थिति धारण करते हैं। षड्भुजा देवी के हाथों में वरद, अक्षमाला, बाण, नीलकमल, रक्तकमल तथा धनुष होते हैं। विश्वमाता को सर्पवाहना स्वरूप में बताया गया है।

रोचक तथ्य यह है कि श्वेततारा कहीं तो ध्यानी बुद्ध अवलोकितेश्वर के साथ दिखाई गई हैं तो कहीं उन्हें अमिताभ के साथ कुरुकुला रूप में तथा अक्षोभ्य

के साथ जांगुली तारा के रूप में भी दर्शित किया गया है।

(2) **हरित तारा** : तारा का यह सबसे प्रसिद्ध रंग है। अखिल भूमण्डल की विधात्री एवं पोषणकर्त्री देवी के रूप में उन्हें हरे रंग का चित्रित किया जाता है। 'साधनमाला' में हरित तारा के नौ स्वरूपों का वर्णन किया गया है--

(1) खदिरबनी तारा (2) वश्य तारा (3) आर्य तारा (4) महत्तरी तारा (5) वरदा तारा (6) दुर्गोत्तारिणी तारा (7) धनदा तारा (8) जांगुली तारा (9) पर्णशबरी तारा।

हरित तारा के रूप में उन्हें कहीं तो चतुर्भुजी, कहीं षड्भुजी तो कहीं अष्टभुजी व त्रिमुखी बताया गया है। हरित तारा के स्वरूपों में से खदिरबनी तारा तथा पर्णशबरी तारा विशेष लोकप्रिय हुई। उनकी मूर्त्तियाँ कई स्थानों से प्राप्त हुई हैं। महिषी की तारा-मूर्त्ति की पहचान पुरातत्त्ववेताओं ने खदिरबनी तारा के ही रूप में स्थापित की है। खदिरबनी तारा, ध्यानी बुद्ध अमोघ-सिद्धि से सम्बन्धित हैं तथा उनके साथ दो सहायक देवियों- एकजटा तथा मारीचि को दर्शित करने का विधान है।

पर्णशबरी तारा की विशेष प्रसिद्धि रोगों से बचाव करने के कारण हुई, ऐसा परम्परा के अवलोकन से ज्ञात होता है। सभी प्रकार के रोगों का नाश करने वाली तारा देवी के रूप में पर्णशबरी के पूजन का विधान किया गया है। **'तन्त्रसार'** में वर्णित रोगहरणी देवी कैराटी या पर्ण कैराटी वस्तुतः पर्णशबरी तारा के ही नाम हैं। ब्राह्मण-कुल की देवी शीतला के साथ हमें पर्णशबरी तारा का साम्य दिखाई देता है।

(3) **पीत तारा** : पीत तारा के पूजन का विधान एक सम्प्रदाय-विशेष में प्रचलित था। इस रूप में उन्हें ब्रह्माण्ड की सभी संभाव्य शक्तियों से परिपूर्ण और त्रिकाल में कोई भी चमत्कारिक उपलब्धि के लिए प्रशस्त माना गया है। देवी की इन्हीं विशिष्टताओं को प्रदर्शित करने के लिए उन्हें बहुमुखी तथा बहुभुजी स्वरूप में दर्शाने का विधान किया गया है। साथ ही, देवी के पैरों के नीचे इन्द्र, ब्रह्मा आदि को दिखाया गया है, जिसका आशय यह है कि वे सर्वोपरि हैं।

'साधनमाला' में पीत तारा के चार स्वरूप वर्णित किए गए हैं--

(1) वज्रतारा (2) जांगुली तारा (3) पर्णशबरी तारा (4) भृकुटि तारा।

गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, घण्टा, पाश, स्फोट आदि के रूप में जो विविध ताराओं की अवधारणा की गई थी, उन सबका समाहार परवर्त्ती काल में इसी पीत तारा में कर दिया गया, ऐसी सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।

पीततारा का एक विशिष्ट रूप प्रसन्न तारा के रूप में भी प्राप्त होता है,

जिसकी तुलना हम 'हुलु हुलु तारा' या 'हा हा तारा' की प्रचलित अवधारणा के साथ कर सकते हैं। **प्रसन्नतारा** की सबसे बड़ी विशिष्टता यह दिखाई गई है कि वे बिना किसी ध्यानी बुद्ध के आश्रय के निरूपित हुई हैं।

(4) **नीलतारा** : हम पहले भी प्रसंगवश कह आए हैं कि भगवती का नील रंग विनाश का प्रतीक है। सभी प्रकार की बुराइयाँ, प्रेत-बैताल आदि अधम योनियाँ, विविध दुष्टात्माएँ, विभिन्न प्रकार की विध्वंसक भावनाएँ- ये सभी नीलतारा के प्रहार से विनाश को प्राप्त होती हैं। इस परिप्रेक्ष्य में विश्वभर के तारा साधक बड़े ही सुनिश्चित विश्वास के साथ नीलतारा का पूजन करते हैं। प्रकृति के अनेकसंख्यक रूपों में नीलरूप को सर्वोत्तम बताते हुए **'नीलतन्त्र'** इसकी सर्वोत्तमता सिद्ध करते हुए कहता है–

रूपाणि बहुसंख्यानि प्रकृतेः सन्ति भाविनि।
तेषां मध्ये प्रधानं तु नीलरूपं मनोहरम्॥
विशेषतः कलियुगे नराणां भुक्तिमुक्तिदम्।
नीलतन्त्रं महातन्त्रं सर्वतन्त्रोत्तमोत्तमम् ॥

'साधनमाला' में नीलतारा के दो स्वरूप निरूपित किए गए हैं–

(1) एकजटा

(2) महाचीनतारा

एकजटा देवी तारा के सभी रूपों में सर्वाधिक भयंकरी हैं। इन्हें चौबीस भुजाओं वाली भी बताया गया है। महाचीनतारा का विशेष उल्लेख यथास्थान किया गया है।

(5) **रक्ततारा** : रक्ततारा को विशिष्ट रूप से वशीकरण की विधात्री माना गया है। वशीकरण चाहे प्रेमीजनों का हो या राजा का अथवा दुष्ट शक्तियों का, रक्ततारा का पूजन इसे सिद्ध करने में प्रशस्त माना गया है।

रक्त तारा का एकमात्र स्वरूप कुरुकुला देवी के रूप में निरूपित है, जिन्हें ध्यानी बुद्ध अमिताभ की शक्ति बताया गया है। देवी को कहीं तो दो भुजाओं वाली तो कहीं चार, छह और आठ भुजाओंवाली भी प्रदर्शित किया गया है।

तारा-साधना का इतिहास : लामा तारानाथ

तारा साधना का प्राचीन इतिहास हमें लिखित रूप में भी प्राप्त होता है। यह एक दुर्लभ बात है क्योंकि आमतौर पर तांत्रिक विषयक पुस्तक या तो दार्शनिक निष्पत्तियों के बारे में लिखे जाने की परम्परा रही है या फिर सामान्य साधक के लिए व्यवहार्य साधना-पद्धति के रूप में। इसका इतिहास तैयार करने की परम्परा नहीं रही है। इस दुर्लभ प्रकार के कार्य को संभव बनाने का श्रेय है- तिब्बत के महान गुरु **लामा तारानाथ** को।

लामा तारानाथ जिनका कि मूल नाम **कून-ङा-नेइंग-पो** था, 1575 ई० में तिब्बत में उत्पन्न हुए। तिब्बती परम्परा में ऐसी प्रसिद्धि है कि उस कालखण्ड में साक्षात बुद्धदेव ने तारानाथ के रूप में अवतार ग्रहण किया था। वह सुविख्यात भारतीय गुरु **बुद्धगुप्त** के शिष्य थे जिनसे अपार विद्या के साथ-साथ उन्होंने भारतीय साधना-पद्धतियों के सम्बन्ध में प्रचुर सूचनाएँ भी प्राप्त की थीं। लामा तारानाथ तिब्बत के उन नवाचारी गुरुओं में से थे जिन्होंने बदलते समय की परिस्थितियों के अनुसार धर्म को अधिकाधिक ग्रहणशील बनाया। उन्होंने **फुन-छोगस्-गिलङ** नामक एक मठ की स्थापना की, जो कालान्तर में अनेक महान कार्यों का पथ-प्रदर्शक बना, यद्यपि कि राजनीतिक कारणों से बाद में उसका विनाश कर दिया गया। **कालचक्र, हठयोग** एवं **तंत्र** पर लामा तारानाथ ने कई पुस्तकें लिखीं। वह मंगोल साधकों के आग्रह पर धर्मप्रचार के लिए मंगोलिया गए, जहाँ धर्मकार्य में रत रहते हुए उनका देहान्त हुआ।

लामा तारानाथ की अनेकानेक पुस्तकों में से अब तक तीन पुस्तकों का अनुवाद अंग्रेज़ी में हुआ है। इसमें उनकी विश्वप्रसिद्ध पुस्तक 'History of Buddhism in India' भी है। इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद 'भारत में बौद्धधर्म का इतिहास' भी उपलब्ध है। उनकी एक पुस्तक 'Mystic tales of Lama Taranatha' है।

प्रस्तुत प्रसंग में हम लामा तारानाथ की जिस पुस्तक का उल्लेख कर रहे हैं, वह है- 'The Golden Rosary : A History illuminating the origin of the Tantra of Tara.' तिब्बती भाषा से इसका अंग्रेज़ी अनुवाद मार्टिन विल्सन ने किया है। यह सूचना प्राप्त होती है कि लामा ने 'तारा-भव-तन्त्र', **'सर्वतथागत-मातृ-तारा-विश्वकर्म-भव-तन्त्र'** तथा **'आर्यतारा कुरुकुले-कल्प'** नाम से ऐतिहासिक एवं साधनात्मक रहस्यपूर्ण तथ्यों की पुस्तकें श्रृंखला में लिखी

थीं, जिनमें से एक पुस्तक यह है।

लामा तारानाथ ने अपने इतिहास का आरम्भ महात्मा बुद्ध के महानिर्वाण के 300 वर्ष बाद के विवरण से आरम्भ किया है। उस काल की सभी प्रमुख घटनाओं तथा **क्रियातन्त्र**, **चर्यातन्त्र** तथा **योगतन्त्र** के उद्‌भव की कथा बताते हुए वे आगे बढ़ते हैं। इस पुस्तक की मुख्य बातों का उल्लेख हम यहाँ कर रहे हैं।

लामा तारानाथ ने लिखा है कि बुद्ध के निर्वाण के तीन सौ वर्षों के बाद तृतीय संगीति सम्पन्न हो चुकी थी, महायान के प्रायः सभी सूत्र लिखे जा चुके थे और ये भारत के विभिन्न भागों में फैल चुके थे। इनके प्रसार से आम जनता में सद्‌धर्म की ग्राहकता बढ़ रही थी और संसार **मंजुश्री**, **अवलोकित** तथा **मैत्रेय** आदि महागुरुओं का पुण्य प्रताप देख चुका था। इनके साथ-साथ योगाचार के पाँच सौ आचार्य तथा **निःस्वभाववाद** (माध्यमिक) के आठ आचार्य अपनी सिद्धि का आलोक फैला चुके थे। और तब की बात है कि क्रिया, चर्या एवं योग तंत्रों के प्रभेद समाज में अपना स्थान बना चुके थे तथा चिंतकों की बुद्धि एवं क्रिया में अपनी विशिष्ट छवि निर्मित कर चुके थे। और, उस वक्त जिस भी किसी साधक ने **वज्रसत्व** और **गुह्यपति** की शिक्षाओं के अनुरूप मन्त्रयान के मार्ग से प्रयास किया, उनमें से कोई भी ऐसा अभागा न हुआ जिसने सिद्धि न प्राप्त कर ली हो।

लामा तारानाथ रहस्योद्‌घाटन करते हैं कि यह सब आर्या तारा की साधना से ही संभव हुआ था।

तत्कालीन भारत के भौगोलिक परिदृश्यों का विवरण देते हुए आगे लामा लिखते हैं कि पूर्वी भारत के बंगाल के राजा **हरिचन्द** तथा उनके एक हजार सहयोगियों ने सिद्धि प्राप्त की, उड़ीसा के राजा **मुंज** अपने सहायकों के साथ सिद्धि को उपलब्ध ही न हुए, अपितु **'विद्याधर'** का वैभव प्राप्त किया। पश्चिम भारत में मालव देश के राजा **भोजदेव** अपने हजारों सहयोगियों के साथ अचानक अन्तर्धान होकर अपनी सिद्धि का प्रदर्शन करने में समर्थ हुए। इसी प्रकार दक्षिण देश कोंकण के राजा **हरिभद** अपने हजारों अनुगामियों के साथ सिद्धि को प्राप्त हुए। लामा ने एक मोटा हिसाब दिया है कि बुद्ध के महानिर्वाण के एक हजार वर्ष के भीतर मन्त्रयान के मार्ग से कम-से-कम एक सौ हजार (1,00,000)साधकों ने अनिर्वचनीय सिद्धि प्राप्त की। लामा लिखते हैं कि सिद्धि के सोपान की बातें यद्यपि अत्यन्त गुप्त रखी जाती हैं लेकिन जाननेवाले भली-भाँति जानते हैं कि यह सब आर्या तारा के प्रताप से ही संभव हो सका था। अहोभाव व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि आर्या तारा तब इतनी करुणामयी थीं कि सिद्धि के पूर्व ही, आरम्भिक साधनावस्था में भी, अपने साधकों के समक्ष उपस्थित होकर वे उनका पथ-प्रदर्शन करती थीं।

अपनी पुस्तक में इस आरम्भिक भूमिका के उपरान्त लामा तारानाथ ने वाचिक परम्परा से प्राप्त सोलह कथाओं का उल्लेख किया है, जिनमें आर्या तारा के द्वारा विपद्ग्रस्त मनुष्यों की रक्षा की कथा लिखी गई है। पहली कथा, **उड़ीसा** देश के एक क्षत्रिय की है, जो नगर से दूर किसी उपवन में एकाकी गहरी नींद में सो रहा था, जब अचानक सैकड़ों की संख्या में सशस्त्र शत्रुओं ने उसे घेर लिया। क्षत्रिय असहाय हो गया। उसने सुन रखा था कि कोई एक तारा देवी हैं, जिनके नाम का स्मरण विपद्ग्रस्त प्राणी करे तो उसकी तुरन्त रक्षा होती है। सो वह क्षत्रिय तारा का नाम ले-लेकर रोने लगा। लामा लिखते हैं कि ठीक उसी समय वहाँ एक भयंकर आँधी आई, जिससे उसके सभी दुश्मन अज्ञात दिशाओं में उड़ गए। इस प्रकार, उस क्षत्रिय की रक्षा हुई।

इसी प्रकार, इस पुस्तक में आर्या तारा के द्वारा व्याघ्र-भय से, हस्ति-भय से, अग्नि-भय से, सर्प-भय से प्राणियों की रक्षा की कथा लिखी गई है। इन कथाओं में नाम एवं स्थान का भी उल्लेख है, जिससे एक हद तक इसे ऐतिहासिकता प्राप्त होती है।

गुजरात के भरुकच्छ निवासी एक व्यापारी की कथा का उल्लेख करते हुए लामा कहते हैं कि वह अपने कई हजार ऊँटों तथा पाँच सौ घोड़ों पर व्यापार का माल लादे एक बार मारबाड़ के मरुप्रदेश से गुजर रहा था। वहाँ उसे नरभक्षी दस्युओं ने घेर लिया, जो न केवल लूटते व हत्या करते थे बल्कि शिकार को मारकर उसका माँस भी खा जाते थे। स्मरण करने पर तारा ने उसकी किस प्रकार रक्षा की, इसका वर्णन करते हुए लामा तारानाथ ने विशेष रूप से इस बात का उल्लेख किया है कि इस प्रतिरक्षात्मक कार्रवाई में किसी का भी वध नहीं किया गया। तारा के सम्बन्ध में यह तो प्रसिद्ध ही रहा है कि वे बिना एक बूंद खून बहाए विपद्ग्रस्त प्राणी की रक्षा करती हैं।

इसी प्रकार की अन्य कथाएँ हैं कि तारा ने किस प्रकार एक गरीब ब्राह्मण को धन प्राप्त करने का उद्यम बताया, कैसे आप्तजन से विरह का भंजन किया, कैसे शासन के कोप से दुःखी जन की रक्षा की, आदि-आदि। इस श्रृंखला की अन्तिम कथा में लामा ने एक गृहस्थ का विवरण लिखा है कि कैसे वह विपत्ति से ग्रस्त होकर अपनी सारी जायदाद के साथ दूसरे शहर को रवाना हुआ। वहाँ अपने एक मित्र के पास अपनी बहुमूल्य संपत्तियाँ रखकर दूर देश को व्यापार के लिए चला। एक जहाज से वह समुद्र-यात्रा पर निकला, जहाँ **मलक्का** देश में जाकर उसे मोती एवं श्वेतचन्दन का अमूल्य खजाना मिला, जिसे नौका पर लादकर जब वह लौट रहा था, नौका डूब गई। किसी प्रकार जान तो उसकी बच गई लेकिन

जमा किया सारा धन पानी में बह गया। वहाँ से थक-हारकर जब वह अपने मित्र के घर आया तो पता चला कि वह भी दूर देश में जाकर बाघ से घायल होकर मर चुका है। अब तो वह कहीं का न रहा। इसी निराशा की बेला में किसी ने उसे आर्या तारा के स्मरण की सलाह दी, जिससे **सिन्धु** नदी में न केवल उसका खोया धन मिल गया बल्कि अपने मित्र के घर की खुदाई करने पर उसे अपनी अमानत भी प्राप्त हो गई।

अपनी पुस्तक के अगले भाग में लामा तारानाथ ने विवरण दिया है कि धर्मसाधना के महान उन्नायकों की रक्षा तारा ने किस प्रकार की। इसमें आचार्य **नागार्जुन**, आचार्य **चन्द्रगोमिन्**, आचार्य **सर्वज्ञमित्र**, उपासक **भदन्त अश्वभव** तथा आचार्य **स्थिरमति** के विवरण दिए गए हैं।

वज्रासन (बोधगया) में तारा-साधना के इतिवृत्त पर एक पृथक् खंड लामा ने अपनी पुस्तक में दिया है। इसमें कुछ कथाएँ भी हैं। एक कथा के अनुसार एक सैन्धव श्रावक निरंजना नदी में डूबने लगा तो तारा ने एक प्रस्तर-मूर्त्ति बनकर उसकी रक्षा की। उनके इस रूप को **'नदी-तारा'** के रूप में प्रसिद्धि मिली। इसी प्रकार, एक अन्य कथा के अनुसार एक वृद्धा को मिट्टी के अन्दर दबी तारा की एक मूर्त्ति मिली, जिसे उसने महाबोधि-प्रांगण में स्थापित करवाया। उस मूर्त्ति की पीठ महाबोधि की ओर था, सो बाद में उसे बड़ा पछतावा होने लगा कि मूर्त्ति की स्थापना गलत रूप में हो गई, देवी का मुख महाबोधि की ओर होना चाहिए था। कहा गया है कि उसी रात तारा ने स्वप्न में उससे कहा कि यदि तुम्हें यही अच्छा लगता है तो मैं अपने मुख की दिशा बदल लेती हूँ। सुबह उठकर जब वह मूर्त्ति को देखने गई तो उसने पाया कि तारा का मुख अब महाबोधि की ओर था। देवी के इस रूप को **'परिवर्त्तित-मुख-तारा'** के रूप में प्रसिद्धि मिली।

पुस्तक के अगले भाग में लेखक ने तारा-साधना के विभिन्न कुल-परम्पराओं का विवरण दिया है। इनमें पहला विवरण **बंगाल** के सिद्ध आचार्य त्रिपिटक **हयपाल** का है, जिन्होंने अपने गुरु आचार्य **गुह्यशील** से तारा-साधना की विधि ली, उससे वरेण्य सिद्धि प्राप्त की, फिर इसका विकास किया। बाद में वे **उड्डीयान** के वज्रपीठ में गए जहाँ अनेक ग्रन्थों यथा **'तारा-भव-तन्त्र'**, 'चण्डमहा-रोषणतन्त्र', **'वज्रपाणि परमगुह्यतन्त्र'** आदि की रचना की। उन्होंने **त्रिपुरा** के सुदूर जंग में आर्या तारा का एक भव्य मन्दिर बनवाया, जहाँ रहकर उन्होंने अनेक शिष्यों को ज्ञानदान दिया तथा अनेक ग्रन्थों की रचना की। कहते हैं कि वह न केवल स्वयं आकाश में उड़ सकते थे अपितु अपने साथ दूसरे लोगों को भी आकाश-यात्रा करवा सकते थे।

त्रिपिटक **हयपाल** के पट्टशिष्य आचार्य **हयघोष** हुए, जिन्होंने गुरु परम्परा को बहुत बड़ी व्याप्ति दी। कहते हैं कि हयघोष आदि आचार्य दीक्षा के पूर्व शूद्र वर्ण के थे। वह दोनों यानों में प्रकाण्ड विद्वत्ता रखने के साथ-साथ पाँच प्रकार के विज्ञानों में भी गहरी अभिज्ञता रखते थे। उन्होंने **'अश्मगर्भ'** नामक तंत्र-ग्रंथ की रचना की तथा तारा-तंत्र के गुह्य मार्ग को बड़ा ही व्यापक विस्तार दिया। अनेक धर्मावलम्बियों से शास्त्रार्थ कर उन्हें अपने मार्ग में दीक्षित किया। उनके बारे में प्रसिद्धि है कि अपनी तंत्र-सिद्धि से उन्होंने एक यक्षिणी का वशीकरण कर रखा था, जो उनके एक हजार शिष्यों से भरी-पुरी पाठशाला का आर्थिक भार वहन करती थी। उनकी शिष्य-परम्परा निरन्तर आगे बढ़ती गई। उल्लेख्य है कि परम विख्यात सिद्ध **राहुलभद**, जिन्हें **'सरहपा'** नाम से जाना जाता है और जिनकी अपार सिद्धियों के कारण उन्हें **'ब्राह्मणों में महाब्राह्मण'** कहा जाता है, उन्हीं की शिष्य-परम्परा में हुए।

तारा-साधना की एक अन्य कुल-परम्परा **कश्मीर** में विकसित हुई। इस परम्परा के सबसे विख्यात आचार्य **सूर्यगुप्त** हुए। कहते हैं कि उन्होंने सात जन्मों तक निरन्तर तारा की साधना की थी। इससे उनमें इतनी प्रभुता आ गई थी कि बचपन में ही वे पंडित हो गए थे। आचार्य **नागमित्र** के संरक्षण में वे तारा-तत्त्व को उपलब्ध हुए। सामान्यतः उन्हें तारा-तन्त्र की 108 प्रशाखाओं का विरल विशेषज्ञ माना जाता है। उन्होंने **'ताराभवतन्त्र'** तथा साधना विषयक 13 ग्रन्थों की रचना भी की। वे **चन्द्रगोमिन्** के समकालीन थे, ऐसा माना जाता है। सूर्यगुप्त की शिष्य-परम्परा में सबसे विख्यात आचार्य **सर्वज्ञमित्र** हुए। एक सुयोग्य गुरु के रूप में सर्वज्ञमित्र को सर्वाधिक ख्याति प्राप्त है। ऐसा इसलिए कि उनके शिष्यों में से सबसे अधिक ने सिद्धि प्राप्त की है। उनके एक शिष्य थे—**धनमित्र**। धनमित्र ने तारातन्त्र को लंका देश में फैलाया, जहाँ उनके शिष्य **धर्ममित्र** ने गुरु-परम्परा को और भी आगे बढ़ाने का काम किया। इस परम्परा के परवर्त्ती आचार्यों में **शीलरक्षित** सर्वाधिक विख्यात हैं, जिन्हें आचार्य **ललितवज्र** का समकालीन माना जाता है।

अपने इतिहास के अगले अध्याय में लामा तारानाथ ने दर्शन एवं धर्म-साधना के आठ परम प्रसिद्ध आचार्यों के जीवन की घटनाओं का उल्लेख किया है कि किस प्रकार उन्होंने तारा की सहायता से अपनी विपत्तियों से पार पाया। कुछ कथाओं का सारांश प्रस्तुत है—

(1) दक्षिण देश के निवासी आचार्य **दिग्वर्मन** पिटकों के महान मर्मज्ञ थे। उन्होंने **यमान्तकतन्त्र** तथा **तारातन्त्र** पर ग्रन्थों की रचना व सम्पादन किया था, जिससे उन्हें बड़ी ख्याति मिली। उनके बारे में प्रसिद्ध है कि आचार्य **गपुरील**, जो

ब्राह्मण-धर्म के निविष्ट शास्त्रार्थ थे, से एकबार उन्होंने तुमुल शास्त्रार्थ किया। इसमें ब्राह्मण आचार्य पराजित हुए और अपनी विशाल शिष्यमंडली के साथ उन्होंने बौद्धमत स्वीकार कर लिया। तदुपरान्त वे विहार में रहकर धर्म-शिक्षण करने लगे। विवरण मिलता है कि इस बात से आहत होकर एक बार ब्राह्मणों ने, मध्यरात्रि को विहार में आग लगा दी। विषम परिस्थिति उत्पन्न हो जाने पर आचार्य दिग्वर्मन ने आर्या तारा का स्मरण किया, जिन्होंने उनके विहार के जान-माल की रक्षा की।

(2) संस्कृत वाङ्मय के सुप्रसिद्ध कोशकार **अमर सिंह** के सम्बन्ध में लामा तारानाथ लिखते हैं कि वे राजा **विक्रमादित्य** के दरबार में लिपिशास्त्री थे। वे धर्मदर्शन के महान आचार्य थे, जिन्हें हीनयान तथा महायान, दोनों के ही ग्रन्थों पर गहरी पकड़ थी। वे तारातन्त्र के बड़े ही प्रभावी ज्ञाता एवं प्रयोगकर्त्ता थे तथा **मालव** प्रदेश में निवास कर अपने पाँच सौ शिष्यों को अभिधर्म का ज्ञान प्रदान करते थे। नाग राजाओं ने उनकी प्रसिद्धि से ईर्ष्या करते हुए उनके विरुद्ध तुमुल जल-युद्ध छेड़ दिया। तारा ने उनकी रक्षा की तथा जल-युद्ध में स्वयं नागवंशी ही ध्वस्त हुए।

(3) आचार्य **देवसिंह** तारातन्त्र के बड़े ही निविष्ट प्रयोगकर्त्ता हुए, जिनके बारे में लेखक कहता है किं वे **कश्मीर** के राजा श्रीहर्ष के गुरु थे। वह सद्धर्म के एक प्रभावी प्रवक्ता थे और उनका प्रभाव **तुर्क** और **फारस** देश तक में था। कहते हैं कि उनके बढ़ते प्रभाव से घबराकर फारस देश के मुस्लिम बादशाह ने उन्हें गिरफ्तार करवाकर कारागार में डाल दिया। बादशाह ने उनसे कहा कि यदि वे प्राणों की मुक्ति चाहते हैं तो इस्लाम कबूल कर लें। आचार्य देवसिंह ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। उन्हें एक-से-एक कठोर यातनाएँ दी जाने लगीं। लामा कहते हैं कि तारा की कृपा से वे सभी यातनाएँ अपना प्रभाव खो देती थीं और कारागार में भी वे सुखपूर्वक तारा का ध्यान करते हुए निवास करते थे। इस चमत्कार से बादशाह घबरा गया और उन्हें मुक्त करते हुए क्षमा-याचना करने लगा।

(4) वैभाषिक सम्प्रदाय के महान आचार्य **संघमित्र** के सम्बन्ध में तारानाथ सूचना देते हैं कि एक बार स्वप्न में उन्हें नीले शरीरवाली किसी देवी ने महायान के प्रसारण का आदेश दिया। उसका पालन करते हुए समर्पित भाव से वे सूत्रों एवं तंत्रों के पुनरुद्धार में लग गए। कश्मीर को उपयुक्त क्षेत्र न पाकर वे अधिकाधिक कार्य-सिद्धि के लिए मध्यदेश आ गए। वहाँ वे प्रसिद्ध गुरु **मुक्तिसेन** के विहार जा रहे थे, जहाँ रास्ते में उन्हें डाकुओं ने पकड़ लिया। डाकुओं से उन्हें जानकारी मिली कि उनलोगों ने देवी दुर्गा के लिए नरबलि की मनौती की है, जिसमें उनकी ही बलि दी जाएगी। नियत समय पर उन्हें छाग की भाँति देवी के समक्ष बलिप्रदान के लिए उपस्थित किया गया। आचार्य संघमित्र अत्यन्त विचलित

हो गए और रो-रोकर देवी तारा से प्राणों की भिक्षा माँगने लगे। कहते हैं कि उनकी इस व्याकुल प्रार्थना का ऐसा तीव्र प्रभाव हुआ कि सामने रखी देवी दुर्गा की प्रतिमा फट गई और टुकड़े-टुकड़े में बिखर गई। इस घटना से घबराकर सारे डाकू भाग गए। इस प्रकार, आचार्य की प्राणरक्षा हुई।

(5) आचार्य **सुभाषकीर्त्ति** विनयपिटक के बड़े ही सिद्ध विद्वान थे तथा तारा-साधना करते थे। एक बार वे देशाटन के निमित्त मध्यदेश में गए। घूमते-घूमते वे पहाड़ की चोटी पर बसे एक विहार में पहुँचे जहाँ अनेक भिक्षुवेषधारी संन्यासी उनसे ज्ञान सीखने लगे। उस प्रान्त में **तुर्की** मुस्लिम आक्रान्ताओं का भी प्रभाव था। गेरुआ वस्त्रधारी इन साधुओं की गतिविधियों से उनलोगों को भय हुआ कि ये आम लोगों को भड़काकर हमारा अहित कर सकते हैं। उनलोगों ने तीन सौ हाथियों से सज्जित एक सेना इन भिक्षुओं को मार डालने के लिए भेजी। कहते हैं कि आचार्य सुभाषकीर्त्ति अपने विशाल शिष्य-मंडली समेत जब घेर लिए गए तो उन्होंने अन्य कोई उपाय न पाकर तारा की प्रार्थना की। तारा ने उन्हें संकेत दिया कि सेना की ओर जल के छींटे फेंको। आचार्य ने ऐसा ही किया। जल के उन छींटों का इतना त्वरित प्रभाव हुआ कि सभी हाथी अनियंत्रित हो गए और सैनिकों को गिराते-कुचलते हुए पीछे की दिशा में ही भाग खड़े हुए।

(6) आचार्य **बुद्धदास** के संबंध में यह कहा जाता है कि वह एक बार देशाटन को निकले। रास्ते में उन्हें एक सुनसान शहर मिला, जहाँ कोई भी जीवित प्राणी उपलब्ध नहीं था। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सुन रखा था कि इस इलाके में बाघ का बड़ा उपद्रव हुआ करता है। उन्होंने अनुमान किया कि बाघ के भय से ही सभी नगर-निवासी भाग गए होंगे। वे यह सब सोच ही रहे थे कि उनके सामने बाघों का एक बड़ा दल उपस्थित हो गया। वे उन्हें मारकर खा जाने का उपक्रम करने लगे। आचार्य ने अपने जलपात्र से तुरन्त जल निकाला और तारा-मंत्र का पाठ करते हुए वह अभिमंत्रित जल बाघों की ओर उछाल दिया। इसका इतना त्वरित प्रभाव हुआ कि वे सारे बाघ पीछे हट गए और नगर छोड़कर भाग गए।

(7) परमप्रसिद्ध दार्शनिक **दिङ्नाग** के सुयोग्य शिष्य आचार्य **त्रिरत्नदास** के सम्बन्ध में कथा है कि **उड़ीसा** प्रान्त में रहकर वे अपने शिष्यों को धर्म का ज्ञान प्रदान कर रहे थे कि तभी एक भीषण उत्पात शुरू हुआ। समुद्र से एक विशालकाय जहरीला सर्प धरती पर चला आया और उसके रास्ते में जो भी मनुष्य और जीव-जन्तु पड़े, सबको मौत के घाट उतारता हुआ वह **उत्कल** नगर में प्रवेश कर गया। अफरा-तफरी मच गई। लोगों ने सर्प को मारने का भी काफी प्रयास किया, लेकिन उस पर किसी भी शस्त्रास्त्र का असर नहीं होता था।

कोई अन्य उपाय न देख आचार्य त्रिरत्न ने तारा से प्रार्थना की और अभिमंत्रित जल सर्प की दिशा में यह कहते हुए निमज्जित किया कि हे सर्पराज, आर्या तारा का आदेश है कि तुम अपने घर लौट जाओ। कहते हैं कि साँप उसी समय स्थानीय नदी के रास्ते समुद्र की ओर लौट गया। इस प्रकार, प्राणियों की रक्षा हुई।

(8) आठवीं कथा का संबंध **मिथिला** से है। आचार्य शान्तिदेव के योग्य शिष्य **ज्ञानदेव**, जो दक्षिण भारत के निवासी थे, देवी तारा का आदेश पाकर तपस्या के लिए हिमालय-क्षेत्र आए जहाँ से **तिरहुत** में प्रवेश किया। वहाँ **थारू** जनजाति के निवासियों के बीच एक ब्रह्मराक्षस का बड़ा ही आतंक था। वह बेताल हजारों लोगों को मौत के घाट उतार चुका था। समूचा तिरहुत प्रदेश उसके भय से काँपता था। आचार्य ने तारा-मंत्र का जप करते हुए अभिमंत्रित जल से न सिर्फ उस ब्रह्मराक्षस का अन्त किया अपितु कई घायल लोगों को मौत के मुँह में जाने से भी बचाया।

यहाँ प्रसंगवश यह कहना है कि लामा तारानाथ द्वारा रचित इस इतिहास-ग्रन्थ में कई ऐतिहासिक तथा भौगोलिक विसंगतियाँ हैं। इस ओर विद्वानों का ध्यान भी गया है। उनके बारे में यह कहा जाता है कि उन्होंने स्वयं कभी भारत की यात्रा नहीं की थी। परम्परा से प्राप्त जो कथाएँ अनेक मुखों से गुजरती हुई उनके पास तक पहुँचीं, उन्हीं के आधार पर उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना की है, अतः निश्चय ही इसकी सीमाएँ हैं। लेकिन फिर भी, इतना तो तय है कि ये विवरण उन दिनों भारतवर्ष में अत्यन्त प्रसिद्ध रहे होंगे, तभी गुरुओं और भिक्षुओं के माध्यम से तिब्बत देश तक पहुँचे होंगे।

अस्तु! अपनी इतिहास पुस्तक के अगले भाग में लामा तारानाथ ने तारा की साधना के फलस्वरूप अनसुनी-अभूतपूर्व सिद्धियों की प्राप्ति-कथाओं के भी दर्जनों उदाहरण दिए हैं। इनमें आधुनिक मनुष्य को अतिरंजकता के दर्शन होंगे। तात्पर्य केवल यह समझा जा सकता है कि असंभव-से-असंभव कार्यों की सिद्धि न केवल तारा-कृपा से संभव थी, अपितु उसमें उल्लेखनीय विशिष्टता भी प्राप्त करने की बात पर विश्वास किया जाता था। समस्त विवरण लिखते हुए लामा बीच-बीच में यह याद दिलाते रहते हैं कि अमुक से अमुक अवधि के बीच इतनी संख्या में साधकों ने तारा-तंत्र की बदौलत सिद्धि प्राप्त की। जैसे, एक बार वह पुनः दुहराते हैं कि आर्य **नागार्जुन** के बाद से राजा **धर्मपाल** के समय तक पांच हजार साधकों ने तारा-कृपा से अद्भुत सिद्धि उपलब्ध की।

पुस्तक के उत्तरार्द्ध में लामा ने तारा-तन्त्र की उत्तरोत्तर अवनति की परिस्थितियों का वर्णन किया है। राजा **धर्मपाल** के समय के पश्चात इस क्षेत्र में श्रेष्ठता का हनन होने लगा। गहन तपस्यापूर्वक साधना के बदले लोग आनन-फानन

में जादुई करामात पाकर सन्तुष्ट होने लगे। लामा ने एक किम्बदन्ती का उल्लेख किया है कि **गुह्यतंत्र** के अनुरूप आचार और गोपनीयता न पाए जाने के कारण तारा-तंत्र और ऐसे दूसरे कई उच्च स्तरीय तंत्रों को आठ स्वर्णभाण्डों में बन्द कर **सितवन** की भूमि के नीचे गाड़ दिया गया। इससे धर्मच्युति के कारण होनेवाले विपरीत प्रभावों से प्राणियों की रक्षा हुई। साथ ही, भूमि में समाहित होकर इन महाशक्तियों ने जहाँ तक संभव हुआ, सूक्ष्म रूप से वायुमंडल को शुद्ध करने का कार्य किया।

तारा-तन्त्र की परवर्त्ती कालावधि के धुरंधर सिद्धों तथा साधकों का विवरण लामा ने अपनी पुस्तक में प्रस्तुत किया है। इनमें से कुछ विवरणों का सारांश हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं–

(1) **साधक कनकश्री की कथा** : कनकश्री **मगध** देश के निवासी थे। परम्परागत रूप से **कुरुकुला** देवी के अनुयायियों से उन्हें शिक्षा प्राप्त हुई। उच्चतर शिक्षा के लिए वे **विक्रमशिला** विश्वविद्यालय में आए, जहाँ उन्होंने सूत्र, तन्त्र एवं विज्ञान की कई शाखाओं में गहरी अभिज्ञता प्राप्त की। गुह्यसमाजतन्त्र की दीक्षा उन्हें बंगाल के एक तंत्र-पंडित से प्राप्त हुई थी। सिद्धि-प्राप्ति के लिए उन्होंने सात वर्षों तक कठोर साधना की लेकिन उन्हें कुछ भी उपलब्ध न हुआ। इससे रुष्ट होकर वे तपस्या से अन्यमनस्क हो गए।

इसी अन्यमनस्कता की स्थिति में एक रात्रि स्वप्न में एक स्त्री-देवी ने उन्हें संकेत दिया कि यदि वे सिद्धि चाहते हैं तो सिद्ध गुरु श्री **नारोपा** के पास जाएँ। तदनुसार कनकश्री गुरु नारोपा के पास उपस्थित हुए। उन्होंने उन्हें चक्रसंवर का मंत्र दिया। छह माह की साधना से वे देवी-दर्शन में समर्थ हो सके। आगे भी गुरु नारोपा के मार्गदर्शन में उन्होंने सात वर्षों तक विविध तंत्रानुशासनों की साधना की।

कनकश्री के सम्बन्ध में एक कथा मिलती है कि राजा **नयपाल** के समय में वे एकबार मगध गए। वहाँ उनका सामना ईश्वरवादी साधक **खसमदेव** से हुआ, जिसने उनकी सिद्धि को चुनौती दी। कहते हैं कि खसमदेव ने मंत्रप्रभाव से शून्य आकाश में एक मण्डल की स्थापना कर दी तथा वहाँ एक पात्र को स्थापित कर दिया। कनकश्री से कहा गया कि अब वे अपनी करामात दिखाएँ। उन्होंने अपने हाथ में पीला सरसों लिया तथा उसे अभिमंत्रित कर शून्य में स्थापित पात्र की ओर फेंका। क्षणमात्र में वह पात्र नीचे गिर गया। इसके पश्चात उन्होंने अपने मंत्रबल से आकाश में उससे भी बड़े एक मंडल की स्थापना की, और वहाँ भगवती तारा की मूर्त्ति स्थापित कर दी। ईश्वरवादी खसमदेव लाख जतन करके भी उस मूर्त्ति को टस से मस न कर पाए।

बाद में राजा नयपाल ने उन्हें विक्रमशिला विश्वविद्यालय में मातृतंत्रों के **परमाचार्य** के पद पर नियुक्त किया।

ध्यान देने की बात है कि यह वृत्तान्त ऋषि वशिष्ठ के वृत्तान्त से काफी .मिलता-जुलता है।

(2) **सिद्ध कंधपा की कथा :** अपने महान गुरु नारोपा से तारातंत्र की दीक्षा प्राप्त कर **कंधपा** ने प्राणि-हित में बहुत सारे कार्य किए। अपने इष्ट **हेरुक** तथा **तारा** को किसी भी समय वे अपने पास आमंत्रित कर सकते थे, इतनी शक्ति उनकी साधना में थी।

कहते हैं कि एक बार वे देशाटन के लिए **दिल्ली** गए। वहाँ **मंगोल** बादशाह का शासन था जो अपने लिए एक विशाल महल का निर्माण उन दिनों करवा रहा था। सिद्ध कंधपा ने सुन रखा था कि बादशाह अत्याचारी है तथा साधु-सन्तों का पीड़क है। कहा जाता है कि कंधपा अपनी कुटी में बैठकर हमेशा फटे-चीथड़े कपड़ों को सीते रहा करते थे। जब बादशाह का महल बनकर तैयार हो गया तो कंधपा ने अपने सीये हुए कपड़े को फाड़ दिया। उसी समय बादशाह का महल भड़भड़ाकर गिर पड़ा। बादशाह ने फिर से महल तैयार करवाया। कंधपा ने फिर कपड़ा फाड़ दिया। महल फिर गिर पड़ा। ऐसा तीन बार हुआ। चारों ओर अफवाह फैल गई कि एक साधु की हाय के कारण बादशाह का महल गिर जाता है। बादशाह ने कंधपा को बुलवाया। कहते हैं कि कंधपा ने उसकी बड़ी फजीहत की। जब उसने कबूल किया कि अब वह आम जनता पर अत्याचार नहीं करेगा और न ही साधु-सन्तों का उत्पीड़न करेगा तो कंधपा ने उसे फिर से महल बनाने का आदेश दिया।

(3) **सिद्ध ठक्की नग्नपा की कथा :** वज्रयान के अत्यन्त महान वीरव्रतधारियों में **ठक्कीपा** का नाम आता है। उनकी महानता के किस्से बड़े प्रचलित हैं। कहते हैं कि छोटी उमर में ही उन्हें साधना की ओर प्रवृत्ति हो गई थी। नाई कुल में जनमे ठक्कीपा अपनी सामाजिक हैसियत को लेकर भी सजग थे, जिसका प्रभूत फल उनकी साधना पर पड़ा। अनेक गुरुओं से तारातंत्र का मार्गदर्शन प्राप्त कर उन्होंने अनेक वर्षों तक साधना की किन्तु उन्हें सिद्धि न मिली। कहते हैं कि स्वयं तारा ने ही ध्यानावस्था में उन्हें निर्देश दिया कि तुम परमगुरु **नारोपा** के पास जाओ, जहाँ तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी। गुरु नारोपा से दीक्षा प्राप्तकर वे नील पर्वत पर गए जहाँ पन्द्रह वर्षों तक तारा की अमोघ साधना की। **चक्रसंवर** में जैसी उनकी गति थी, कहते हैं कि किसी दूसरे व्यक्ति में उसका मिलना संभव नहीं हुआ।

(4) **लीलावज्र की कथा :** आर्या तारा के एकाग्र उपासक **लीलावज्र**

के सम्बन्ध में लामा तारानाथ सूचना देते हैं कि वे वीरयोद्धा क्षत्रिय थे। एक बार अपने कार्यवश **मगध** गए। वहाँ रास्ते में उन्होंने एक योगी को अपनी कुटी के बाहर बैठे देखा। उन्हें देखकर उनके हृदय में भावनाओं की हिलोरें उठने लगीं, जिसका कोई कारण वे समझ न सके। वे उस योगी से मिले, उनका आशीर्वाद प्राप्त किया फिर लौट आए। मगध में उन्हें काफी दिन लग गए। जब वे वापस लौटकर अपने देश आए तो उन्हें बड़ा झटका लगा। उन्होंने पाया कि उनकी पत्नी किसी अन्य पुरुष के प्रेम में लिप्त है। वे अत्यन्त दु:खी हुए। घर छोड़कर वे पुनः वापस मगध की दिशा में चल पड़े। वे उसी योगी के पास पहुँचे। वे योगी वस्तुत: **सिद्ध** परमगुरु तिलोपा थे। लीलावज्र उनके शरणागत हुए। गुरु ने उन्हें तारातंत्र की दीक्षा दी तथा लम्बे समय तक उनका मार्गदर्शन किया। लीलावज्र ने ऊँची साधना की। उनका यश इतना प्रचलित हुआ कि उन्हें लीलारूपधारी साक्षात बुद्ध तक कहा गया।

(5) **साधक मध्यम सिंह तथा ताराश्री मित्र की कथा** : ये दोनों जगतप्रसिद्ध महागुरु **दीपांकर श्रीज्ञान अतीश** के शिष्य थे। तारातंत्र की अभिज्ञता की बदौलत इन दोनों का काफी नाम है।

मध्यम सिंह के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इतने महान गुरु का शिष्य होकर भी, तथा विश्वविख्यात विक्रमशिला विश्वविद्यालय का अन्तेवासी होने के बावजूद वह केवल एक ही विषय क ज्ञाता बन सके। वह विषय था-तारा-तंत्र। इस विषय ने उनके भीतर इतनी पैठ बना ली थी कि किसी दूसरे विषय की ओर ध्यान देने की उनमें प्रवृत्ति ही नहीं हुई। लेकिन इस विषय में उनको इतना प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त था व इतनी साधना-शक्ति थी कि कोई अन्य उनकी बराबरी नहीं कर सकता था। कहते हैं कि जल-थल-अनल-अनिल आदि के प्रति उनका समान भाव था। जिस प्रकार वे ठंडे लोहा को हाथ से उठा सकते थे उसी आसानी से वे अग्निकुंड में जल रहे तप्त लौहखंड को उठा सकते थे। जैसे वे धरती पर पैदल चलते थे, वैसे ही गंगा नदी में चलते थे।

साधक **ताराश्री मित्र** के सम्बन्ध में विवरण मिलता है कि उनकी वाचाशक्ति अमोघ थी। कितने पंडितों को उन्होंने **शास्त्रार्थ** में हराया इसकी गणना कठिन है। अपनी इसी दैवी शक्ति के फलस्वरूप **कश्मीर** के राजा ने उन्हें अपना गुरु कबूल किया। तारातंत्र के विद्या-प्रभाग में उनकी गति अनन्य थी।

(6) **सिद्ध शाक्यरक्षित की कथा** : शाक्यरक्षित का जन्म **श्रीलंका** में हुआ था। आरंभ में वे **सैन्धव श्रावक** थे। अपने विषय का प्रचुर ज्ञान उन्होंने प्राप्त कर लिया था। बाद में वे प्रसिद्ध तीर्थनगर **हरिपुंज** आए जहाँ गुरु **धर्मश्री** से उन्होंने **हेवज्रतंत्र**, **चक्रसंवर**, **तारातंत्र** तथा **महाकालतंत्र** का प्रकाण्ड ज्ञान प्राप्त किया।

उनके सम्बन्ध में प्रसिद्धि है कि तारामंत्र की बदौलत उन्होंने स्वयं महाकाल का वशीकरण कर रखा था, जो बुलाए जाने पर सदेह उनके समक्ष उपस्थित होते थे। उनकी साधना इतनी प्रभावी थी कि अपनी मनचाही वस्तु का यदि वे आवाहन करें तो एक सौ योजन दूर से भी उड़कर वे वस्तुएँ उनके पास चली आती थीं।

एक बार **चंगलराज** ने हरिपुंज नगर पर हमला करने की योजना बनाई। कहते हैं कि इस बात से सिद्ध **शाक्यरक्षित** बड़े विचलित हुए। उन्होंने महाकाल का आवाहन कर अपना त्रिशूल चंगलराज के निवास की दिशा में फेंका। लंबी यात्रा पूरी कर वह त्रिशूल जाकर चंगलराज के महल से टकराया, और कुल-समुदाय सहित वह तत्काल ध्वस्त हो गया।

इस क्रम को आगे बढ़ाते हुए लामा तारानाथ ने गुरु **ज्ञानशयन**, गुरु **रतिगुप्त**, सिद्ध **पृक्कपा**, गुरु **हरिभंजपा**, गुरु **लोकप्रदापा**, गुरु **सूर्यश्री**, महासिद्ध **शान्तिपाद** आदि तंत्राचार्यों की कथाएँ लिखी हैं। इन कथाओं में चमत्कार की बातें भरी पड़ी हैं।

तारा-साधना के इतिहास का अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि आरम्भिक युग में जहाँ करुणा, प्राणि-कल्याण, विद्या तथा अभय की प्राप्ति साधना के केन्द्र में थे, वहीं परवर्त्ती काल में जादुई चमत्कारों ने इनका स्थान ले लिया था। साधकगण लोककल्याण के बदले चमत्कार-प्रदर्शन में ही अपनी शक्ति की खूबी मानने लगे। हम जानते हैं कि न केवल तारातंत्र, अपितु सम्पूर्ण बौद्ध-विचार-प्रक्रिया ही इसी रूप में सिमटकर रह गई। विद्वानों ने बौद्धधर्म के पतन का एक मुख्य कारण इसे माना है।

लेकिन, हम यह भी देख सकते हैं कि एक ही प्रकृति-शक्ति से हम चाहें तो रचनात्मक कार्य ले सकते हैं, चाहें तो ध्वंस की दिशा में उसे झोंक सकते हैं। तारातन्त्र ऐसी ही एक शक्ति है।



तृतीय अध्याय

तारा-तंत्र-सार

प्रत्यालीढ़पदा तुम घोरा ।
शव पर राजित आसन तोरा ॥

लोचन तीन अरुण, छवि नीला ।
अतिभय भयप्रद तुम्हरी लीला ॥

पिंगल जटाजूट सिर सोहे ।
सर्परूपधृत मुनि मन मोहे ॥

भूषण मुंड, सर्प ओ चरमा ।
को सकिहें कह माँ तुअ मरमा ॥

हस्त चतुर तुअ कठिन विशाला ।
असि, उत्पल ओ कर्तृ-कपाला ॥

अट्टहास करि घोरं हसनम् ।
चमकि उठे अति तीक्ष्णं दशनम् ॥

नहि डरु, नहि डरु कह तुम माता ।
पितृवनवासिनि विहरसि त्राता ॥

तारा का महत्व

आज हिन्दू तंत्र में भगवती तारा का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी प्रशंसा से तांत्रिक वाङ्मय भरा पड़ा है। उनकी अभ्यर्थना में एक-से-एक महनीय उक्तियाँ कही गई हैं। बौद्ध तंत्र-परम्परा में तो वे अद्वितीया हैं ही, हिन्दू तंत्र-ग्रंथों में भी द्वितीया महाविद्या के रूप में उग्र विपत्तियों से भी तत्काल ताड़ने के कारण तथा वाक्स्वरूपा ब्रह्मरूपिणी होने के कारण उन्हें सामान्य साधकों के हित-साधन में अद्वितीया ही साबित किया गया है।

परम्परागत तान्त्रिक विमर्शों में तारा को हिरण्यगर्भ पुरुष (अर्थात हमारे सौरमण्डल के सूर्य) की महाशक्ति बताया गया है। कहा गया है कि सूर्य यदि एक 'तारा' हैं तो अपनी इसी महाशक्ति के कारण। जीवन-जगत को उचित सन्तुलन के साथ संचालित एवं नियन्त्रित करने में उनकी भूमिका सर्वोपरि है। एक ओर जहाँ वह बहुत आसानी से प्रसन्न होकर दुखियों के दुःख दूर करती हैं तो दूसरी ओर प्रकृति के नियन्त्रण को नहीं मानने वाले जीवों के लिए प्रलय और संहार की परिस्थिति भी उत्पन्न करती हैं।

तारा को पराभौतिक उपलब्धियाँ प्रदान करने में समर्थ ज्ञान की देवी बताया गया है। उन्हें मंगलमय कामनाओं की जननी तथा शाश्वत विद्या का आदिस्रोत कहा गया है। विद्वानों का कथन है कि वेदों में उन्हें वाक् (वाक्शक्ति) के रूप में स्मरण किया गया है। उपनिषदों में उन्हें प्रणवशक्ति के रूप में महिमामंडित किया गया है। पुराण 'गौरी' के रूप में उनका आख्यान करता है। ये सभी तारा की ही विविध आख्याएं हैं, ऐसा माना जाता है।

सबसे बड़ी बात तो यह प्रचलित है कि अन्य महाविद्याओं (जैसे काली) की साधना को जहाँ साधारण साधकों के लिए अतिकठिन होने के कारण वर्जित किया गया है, वहीं यह भी दर्शाया गया है कि तारा की साधना के लिए कोई भी विशेष नियम-बन्धन नहीं है, कोई भी व्यक्ति किसी भी स्थान पर उनकी आराधना-ध्यान-जप कर सकता है। यह और बात है कि तंत्र की साधनाओं में स्वयं के लिए ग्रहीत अनुशासन व उनका पालन ही त्वरित फलदायक होते हैं।

महाविद्या : अवधारणा तथा स्वरूप

शाक्त तंत्र में दस महाविद्याओं की अवधारणा प्राप्त होती है। ये दस महाविद्याएँ महाशक्ति के दस स्वरूप हैं। सर्वविदित है कि शाक्त तंत्र में साधना का परम उद्देश्य तो शिव तत्त्व को ही प्राप्त करना है, जो कि स्वयं शैव तंत्र का भी परम ध्येय है किन्तु शिव तत्त्व को प्राप्त करने के लिए इस मत में शक्ति को ही प्रधान माना गया है। कारण यह है कि शक्ति के जागरण के द्वारा ही कोई अन्ततः शिवत्व को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है।

शाक्त तंत्र में शक्ति को मातृस्वरूप माना गया है। हम सब जानते हैं कि माता का हृदय वात्सल्य से परिपूर्ण, पुत्र के हितचिन्तन में सदैव निरत तथा पुत्र के अनेक अपराधों को क्षमा करने में सक्षम होता है। इसी तथ्य को आचार्य शंकर ने 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति' के रूप में अंकित किया है। शिव पिता-रूप हैं अतः पुत्र को निर्यंत्रित करने में एक कठोर अभिभावक-भाव भी उनमें है, जबकि माता का हृदय पुत्र-स्नेह से लबालब भरा है तथा पुत्र के कल्याण के लिए वे कुछ भी कर सकती हैं।

शाक्त तंत्र में शक्ति का जो स्वरूप प्राप्त होता है, उन्हें हम इस श्लोक के रूप में अभिव्यक्त देख सकते हैं–

त्वं शक्तिरेव जगतामखिलप्रभावा
त्वं निमित्तं च सकलं खलु भावमात्रम्।
त्वं क्रीडसि निज-विनिर्मित मोहजाले
नाट्ये यथा विहरते स्वकृते नटो वै।।

(इस ब्रह्माण्ड के समस्त प्रभावों– सृष्टि, पोषण तथा विनाश की शक्ति तुम्हीं हो। समस्त प्रकार के भावों, जिनसे कि कालान्तर में क्रिया उत्पन्न होती है, का निमित्त भी तुम्हीं हो। स्वयं के ही द्वारा बनाए गए मोहजाल में तुम उसी प्रकार क्रीड़ा करती रहती हो जैसे कोई नट अपने ही बनाए नाटक में लीलाएँ करता है)

यह कहा गया है कि वेद जिसे 'विराट विद्या' कहता है, उसे ही तंत्र 'महाविद्या' के नाम से अभिहित करता है। भारतीय परम्परा में जो विद्याओं के दो प्रकार बताए गए हैं- अपरा विद्या और परा विद्या, उनमें से 'परा विद्या' ही यहाँ तात्पर्य समझना चाहिए। अपरा विद्या को मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के द्वारा

ग्रहण किया जा सकता है लेकिन परा विद्या की उपलब्धि के लिए ये सभी पूर्णत: अक्षम हैं। परा विद्या को एकमात्र आत्मानुभूति के द्वारा ही उपलब्ध किया जा सकता है।

महाविद्याओं की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इसके सम्बन्ध में पुराणों में अद्‌भुत आख्यान वर्णित किए गए हैं। श्रीमद्‌भागवत में बहुत विस्तार के साथ इस कथा का उल्लेख पाया जाता है। दक्ष प्रजापति ने अपने यज्ञ में शिव एवं सती को आमंत्रित नहीं किया। किन्तु, अपने पिता के घर धूमधाम से होनेवाले यज्ञ की सूचना पाकर सती ने वहाँ जाने की तीव्र इच्छा प्रकट की। उन्होंने शिव से अनुमति माँगी तथा अनुमति नहीं मिलने पर क्रोधित हो गईं। शिव के द्वारा रोकने की कोशिश करने पर उनका क्रोध बढ़ता गया तथा उन्होंने भीषण काली-रूप धारण कर लिया। कथा मिलती है कि सती के इस भीषण रूप को देखकर स्वयं शिव भयाक्रान्त हो गए व डरकर भागने लगे। सती ने उन्हें रोक दिया तो वे पुनः दूसरी ओर भागने लगे। देवी ने अपना नया रूप धारण कर उनहें उस मार्ग में भी आगे बढ़ने से रोक दिया।

इस प्रकार, दसों दिशाओं में भागने की कोशिश शिव ने की लेकिन देवी ने सब ओर से उन्हें निरुद्ध कर दिया। शिव की इस भयविह्वल अवस्था को देखकर अन्ततः देवी को दया आई और उन्होंने दसों दिशाओं में अपनी मूत्तियाँ अवस्थित करते हुए उन्हें भयमुक्त किया। 'महाभागवत' में इस कथा का समापन इन शब्दों में किया गया है–

एवं पतिं वीक्ष्य भयाभिभूतकं
दयान्विता तत्प्रतिवारणेच्छया।
सर्वासु दिक्षु क्षणमात्रमध्यतः
स्थिता सा भूत्वा दशमूर्त्तयस्तदा॥

दूसरी ओर हम पाते हैं कि शाक्त तंत्र-परम्परा के अनुसार दस महाविद्याओं के केवल रूप ही अलग-अलग नहीं है, बल्कि उनके गुण भी अलग-अलग हैं। इस तथ्य को हम इस प्रकार से समझ सकते हैं कि एक ही व्यक्ति में भिन्न-भिन्न गुण व लक्षण पाए जाते हैं। किसी एक गुण या लक्षण को देखकर उसकी असली पहचान करना कठिन है। एक ही व्यक्ति के भिन्न-भिन्न गुणों एवं लक्षणों के समान ही ये दस महाविद्याएँ एक ही महाशक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं, जिनके भिन्न-भिन्न गुण हैं। योगीजन भी इन्हें दिव्य चेतना की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ ही बताते हैं। शाक्ततंत्र में यह विधान भी किया गया है कि महाशक्ति की एक अवस्था को सिद्ध कर लेने के बाद दूसरी की साधना करनी चाहिए। परम लक्ष्य की सिद्धि के लिए दसो महाविद्याओं की अनुक्रमागत साधना आवश्यक बताई गई है। दस महाविद्याओं के नाम एवं क्रम शाक्त दर्शन तथा चामुण्डा-तंत्र में इस प्रकार

निर्धारित किए गए हैं-

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी।
भैरवी छिन्नमस्ता च सुन्दरी बगलामुखी
धूमावती च मातङ्गी नामान्यन्यानि वै शिव
(शाक्तदर्शन)

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी
भैरवी छिन्नमस्ता च मातङ्गी कमलात्मिका
धूमावती च बगला महाविद्याः प्रकीर्त्तिताः
(चामुण्डातंत्र)

यहाँ हम दस महाविद्याओं के मूल गुणों की सूची प्रस्तुत करते हैं-

(1) **काली** : प्रचण्ड शक्ति, परिवर्त्तन तथा परिणति।

(2) **तारा** : वाक्शक्ति, आध्यात्मिक उपलब्धि, शुभ आकांक्षाएँ तथा शाश्वत विद्या।

(3) **षोडशी** : विलक्षण व अपूर्व सौन्दर्य की अनुभूति तथा परम आनन्द।

(4) **भुवनेश्वरी** : द्रष्टाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति।

(5) **भैरवी** : क्रियाशक्ति एवं पुण्यशक्ति, प्राणशक्ति।

(6) **छिन्नमस्ता** : संहार एवं मारणशक्ति।

(7) **मातंगी** : शब्दशक्ति, ध्वनिशक्ति, क्रीडाशक्ति।

(8) **धूमावती** : अचेतना, मूढ़शक्ति।

(9) **बगलामुखी** : स्तम्भन-शक्ति।

(10) **कमला** : आत्मशक्ति, संयमशक्ति।

महाविद्याओं की संख्या

उपर्युक्त महाविद्याओं का वर्णन-क्रम '**मालिनी विजय-तंत्र**' में नीचे अंकित प्रकार से वर्णित है, जिसमें ऊपर के विवरण से पार्थक्य मिलता है-

काली नीला महादुर्गा त्वरिता छिन्नमस्तिका
वाग्वादिनी चान्नपूर्णा तथा प्रत्यंगिरा पुनः।
कामाख्यावासिनी बाला मातंगी शैलवासिनी
इत्याद्याः सकला देव्यः कलौ पूर्णफलप्रदाः॥

कई तंत्रों में अठारह महाविद्याओं का उल्लेख प्राप्त होता है। काली-कुल एवं श्री कुल नाम से इन महाविद्याओं को दो कुलों में बाँटा गया है, जिनका विवरण

इस प्रकार मिलता है--

काली तारा छिन्नमस्ता भुवना महिषमर्दिनी।
त्रिपुरा त्वरिता दुर्गा विद्या प्रत्यंगिरा तथा॥
काली-कुलं समाख्यातं श्री-कुलं च ततः परम्।
सुन्दरी भैरवी बाला बगला कमलावती प्रिये।
मधुमती महाविद्या श्रीकुलं परिभाषितम्॥

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि प्रथम उद्धरण में तारा को 'नीला' कहा गया है साथ ही द्वितीय उद्धरण में उन्हें काली-कुल की महाविद्या बताया गया है। हम यथास्थान इसका विवरण प्रस्तुत करेंगे।

'**शक्तिसंगमतंत्र**' में महाविद्याओं की संख्या 13 बताई गई जबकि '**निरुत्तरतंत्र**' 18 की संख्या निर्धारित करता है। एक सुप्रसिद्ध मत के अनुसार महाविद्याओं की संख्या 108 है, जबकि '**नारदपाञ्चरात्र**' तो इनकी संख्या सात करोड़ बताता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि तंत्र-परम्परा के उत्तरोत्तर विकास की प्रक्रिया में देश के भिन्न-भिन्न भागों तथा कालों में भिन्न-भिन्न मत प्रचलित थे। तंत्र-साधना की उपलब्धि आत्मानुभूति है, अतः जिस साधक ने जिस देवी की साधना से यह उपलब्धि प्राप्त की, उन्हें विशिष्ट पद पर आसीन किया तथा बाद में उनकी एक परम्परा चल निकली।

लेकिन, यह बिल्कुल स्पष्ट है कि तान्त्रिक मान्यताओं तथा तंत्र-साहित्य का जब अन्तिम रूप से सम्पादन होने लगा तो जिस साधना-पद्धति की जैसी विराट परम्परा थी, तदनुसार उन्हें यथामान महाविद्या का स्थान प्रदान किया गया।

यह भी ध्यान देनेवाली बात है कि सभी भागों की सभी परम्पराओं में तारा को अवश्य ही महाविद्या का पद प्रदान किया गया है।

महाविद्याओं का वर्गीकरण

तान्त्रिक वाङ्मय में महाविद्याओं एवं विद्याओं को तीन मुख्य वर्गों में बाँटा गया है–

1. **कौल वर्ग**
2. **मिश्र वर्ग**
3. **समय वर्ग**

कौल शब्द का निर्माण 'कुल' शब्द से हुआ है किन्तु इसका अर्थ वंश या खानदानी परम्परा से नहीं है। यह वस्तुतः शक्ति का अर्थ प्रदान करता है। इसके प्रवर्त्तक **अल्लक** या **भालरत्न** माने जाते हैं जबकि दूसरी परम्परा इस वर्ग को **मत्येन्द्रनाथ** (मच्छेन्द्र) के द्वारा प्रवर्त्तित बताती है।

इस परम्परा में आदिगुरु के रूप में भैरव को नहीं अपितु भैरवी को माना गया है। महान तंत्राचार्य **अभिनवगुप्त** इसी परम्परा के थे। **'विश्वसारतंत्र'** में कौल-मार्ग को 'पूज्यतम' तथा अनन्य रूप से श्रेष्ठ बताया गया है।

'मन्त्र महौदधि' में ग्रथित यह श्लोक लोक-प्रसिद्ध ही है, जिसमें कौलों को सर्वतंत्र-स्वतंत्र तथा नाना रूप धारग करनेवाले सदाबहार व्यक्तित्व के रूप में वर्णित किया गया है–

अन्तःशाक्ता बहिः शैवा सभामध्ये तु वैष्णवा।
नानारूपधरा कौलाः विचरन्ति महीतले॥

मिश्र वर्ग का तंत्र-दर्शन में अत्यन्त सम्मानित स्थान है, जिसमें काली, तारा तथा षोडशी (त्रिपुरसुन्दरी) की साधना का विन्यासपूर्वक विधान किया गया है। ये उत्तराम्नाय के अन्तर्गत आते हैं। इस मत का विस्तार मिथिला-बंगाल से लेकर केरल-कश्मीर तथा तिब्बत तक था।

समयवर्ग वस्तुतः तंत्र-प्रक्रिया को वैदिक स्वरूप प्रदान करने के प्रयास का सिद्धांत प्रस्तुत करता है। हम जानते हैं कि लोकप्रसिद्ध प्रायः सभी तांत्रिक परम्परा अवैदिक हैं। कालान्तर में कई आचार्य हुए जिन्होंने तन्त्र-शास्त्र को वैदिक आधारशिला देने का प्रयास किया और इस प्रकार इसमें ब्रह्मवाद के साथ-साथ भक्ति उपासना, यम-नियम आदि-आदि तत्त्व सम्मिलित हुए। शिव तथा शक्ति के बदले यह मार्ग ब्रह्म और माया पर आधारित है। **वशिष्ठसंहिता, शुकसंहिता** आदि इसके प्रशस्त ग्रन्थ हैं। परमहंस स्वामी निरंजनानन्द ने यह उल्लेख किया है कि शाक्त मत और वैदिक परम्परा को जोड़ने के लिए ही इस मत को प्रतिपादित किया गया।

महाविद्याओं के भैरव

तान्त्रिक परम्परा में प्रत्येक महाशक्ति किसी एक भैरव की शक्ति हैं। शक्ति होने का तात्पर्य यह है कि उक्त महाविद्या की सिद्धि के पश्चात् जिस उच्चतर चेतना की उपलब्धि होती है, उसकी देवाकृति ही उक्त देवी के भैरव हैं। इस प्रकार, हम किसी महाविद्या के भैरव को उनकी साधना का परम लक्ष्य समझ

सकते हैं। भिन्न-भिन्न महाविद्याओं के जो-जो गुण पहले बताए गए हैं, उनसे सिद्ध शिवत्व की कल्पना उनके भैरव हैं।

हम जानते हैं कि 'भैरव' शब्द प्रारम्भिक काल से ही शिव के लिए प्रयुक्त होता आया है। वैसे, पुराणों के अनुसार अंधक राक्षस के गदा के प्रहार से जब शिव का सिर चार भागों में विभक्त हो गया था, तो उनकी रक्तधारा से भैरवों की उत्पत्ति हुई थी, जिनकी संख्या कहीं पाँच, कहीं आठ तो कहीं बारह बताई जाती है, किन्तु तान्त्रिक भैरव शिव से उत्पन्न ये गण नहीं अपितु स्वयं शिव हैं।

प्रत्येक महाविद्या के साथ संयुक्त भैरव के सम्बन्ध में ऊपर यह जो कहा गया कि महाविद्या के भैरव ही उनकी साधना का परम लक्ष्य हैं साथ ही नियंत्रक भी। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण पर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा।

हम जानते हैं कि प्रथम महाविद्या काली का गुण प्रचण्ड शक्ति, परिवर्त्तन तथा परिणति है। ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया सतत् प्रवहमान है। प्रकृति के नियंत्रण से कुछ भी बाहर नहीं। काल की गति को कोई रोक नहीं सकता। बचपन, जवानी तथा बुढ़ापे की तरह मृत्यु का भी एक क्रम है, जो एक व्यक्ति के लिए भले मिट जाना हो, किन्तु प्रकृति के लिए मात्र परिवर्त्तन है। इस परिवर्त्तन को अखिल ब्रह्माण्ड के स्तर पर कारित करने के लिए, उसे परिणति तक पहुँचाने के लिए प्रचण्ड शक्ति की आवश्यकता होगी, यह स्वाभाविक ही है। इस प्रचण्ड शक्ति की महाविद्या काली हैं। काली की सिद्धि से इस परिवर्त्तन-क्रम पर नियंत्रण किया जा सकता है। बचपन से बुढ़ापा तक गुजार लेने के बाद हम किसी व्यक्ति में जितना अनुभव प्राप्त कर लेने की कल्पना कर सकते हैं, वे यदि युवावस्था में ही प्राप्त हो जाएँ अथवा पहली कक्षा से एम. ए. तक पढ़ने के बाद जितनी अधिकतम विद्या की कल्पना हम किसी अत्यन्त प्रतिभाशाली, कुशाग्रबुद्धि के लिए कर सकते हैं, वे यदि किसी अल्पशिक्षित को ही प्राप्त हो जाएँ तो इसे एक अर्थ में परिवर्त्तन-क्रम का अतिक्रमण कहा जा सकता है। इस दृष्टान्त का जीता-जागता रूप हम आधुनिक काल में रामकृष्ण परमहंस में देख सकते हैं।

इस प्रकार परिवर्त्तन, जो एक अर्थ में काल की सहज प्रक्रिया है, का चरम रूप महाकाल है और वे महाकाली के भैरव हैं।

इसी प्रकार, तारा के भैरव यदि अक्षोभ्य हैं तो यह अत्यन्त स्वाभाविक ही है कि आध्यात्मिक उपलब्धि, शाश्वत विद्या की प्राप्ति की सिद्धि 'अक्षोभ्य' (जो विपरीत से विपरीत परिस्थिति में भी क्षोभ न करे) ही होना चाहिए।

अस्तु, यहाँ हम प्रसंगवश दस महाविद्याओं के भैरवों की सूची प्रस्तुत करते हैं—

(1) काली-**महाकाल**
(2) तारा-**अक्षोभ्य**
(3) षोडशी-**ललितेश्वर**
(4) भुवनेश्वरी-**महादेव**
(5) भैरवी-बटुक
(6) छिन्नमस्ता-**विकराल भैरव**
(7) मातंगी-**सदाशिव**
(8) धूमावती-**कालभैरव**
(9) बगलामुखी-**मृत्युञ्जय**
(10) कमला-**नारायण**

शाक्त मत : ऐतिहासिक आधार

ऊपर जो विवरण उद्धृत किए गए हैं, वे लोक-प्रचलित मान्यताओं के आधार पर हैं। हम देखते हैं कि तंत्र-साहित्य में कभी भी इतिहास-बोध का खास महत्व नहीं रहा तथा मान्यताएँ एवं क्रियाएँ ही प्रमुख भूमिका में रहीं। आधुनिक विचारकों ने नवीन दृष्टिकोण से महाविद्या की अवधारणा पर विचार किया है और इससे कई नए तथ्य उभरकर सामने आए हैं। ये विचारणीय हैं।

(1) ऊपर महाविद्याओं की उत्पत्ति के प्रसंग में **श्रीमद्भागवत** का प्रसंग प्रस्तुत किया गया है। आमतौर पर, मिथिला की परम्परा में, इसे ही उद्धृत किया जाता है। इसी प्रसंग का विस्तार अन्य पुराणों मे वर्णित हुआ है। **विष्णुपुराण**, **ब्रह्माण्ड पुराण**, **ब्रह्मपुराण**, **स्कन्दपुराण** आदि ने दक्ष के यज्ञ में सती और शिव के पहुँचने का उल्लेख किया है। सती, यज्ञ में शिव को आमंत्रित न किए जाने से दुःखी थीं और अन्ततः उन्होंने महाकाल का रूप धारण कर दक्ष का यज्ञ भंग कर दिया। इसी स्वरूप-धारण से महाविद्या के उद्भव का मिथक जोड़ा जाता है। किन्तु रोचक तथ्य यह है कि इस प्रसंग में किसी भी पुराण में महाविद्या के उद्भव का या महाविद्या की अवधारणा का कोई उल्लेख नहीं किया गया है।

(2) यही प्रसंग पद्मपुराण तथा वायुपुराण में भी आया है। किन्तु, वहाँ दक्ष के यज्ञ में केवल सती के पहुँचने का उल्लेख है। शिव वहाँ पहुँचते ही नहीं हैं। वहाँ कथा दी गई है कि सती ने अपने पिता से शिव को आमंत्रित नहीं किए जाने का कारण पूछा। पिता के साथ उनकी गरमागरम बहस हुई और अन्ततः अपने आपको उन्होंने अग्नि के हवाले (यौगिक प्रक्रिया द्वारा) कर दिया। ध्यान रखने की बात है कि यहाँ भी महाविद्या के उद्भव या अवधारणा का कोई संकेत नहीं है।

(3) **भागवतपुराण**, **कालिकापुराण** तथा **लिंगपुराण** में भी इस प्रसंग की कथा आई है। किन्तु, वहाँ यह उल्लेख मिलता है कि दक्ष के यज्ञ में वस्तुतः सती का आगमन हुआ ही नहीं। शिव को आमंत्रित न किए जाने से अत्यधिक दुखी सती ने एक घटना-क्रम में, अपने घर में ही अपने आपको जला लिया, फलस्वरूप उनकी मृत्यु हुई। विचारकों की राय है कि यहाँ भी महाविद्या की अवधारणा का कोई संकेत नहीं है।

(4) **रामायण** तथा **महाभारत** में भी दक्ष के इस यज्ञ-कांड का प्रसंग प्राप्त होता है। **रामायण** में शिव के द्वारा उग्र रूप धारण कर दक्ष के यज्ञ को विध्वंस करने की कथा आई है, किन्तु वहाँ महाविद्या का कोई प्रसंग नहीं पाया

जाता। इसी प्रकार, महाभारत के कथा-प्रसंगानुसार आंमत्रित न किए जाने से दुखी सती एवं शिव ने क्रमशः महाकाली तथा वीरभद्र का स्वरूप धारण कर यज्ञ का विध्वंस कर दिया था, किन्तु वहाँ भी महाविद्याओं का कोई संदर्भ नहीं है।

भागवत की जो कथा पूर्व में उद्धृत की गई है, उसे देखने से भी यह स्पष्ट है कि सती ने शिव को रोकने को लिए दसो दिशाओं में अपने स्वरूप का विस्तार किया, किन्तु यहां महाविद्याओं की अवधारणा का कोई संकेत नहीं है। होता वस्तुतः यह है कि पुराण की कथा उद्धृत करने के बाद कथावाचक एक बात अपनी ओर से जोड़ देता है कि 'इस प्रकार दस महाविद्याओं की उत्पत्ति हुई।' श्रोता चूंकि इतिहास के इस पार है, अतः उन्हें उस पार की दूरी का कोई ठीक-ठीक अनुमान नहीं हो पाता और तथ्य को स्वीकार करने के लिए वह बाध्य होता है। दूसरी एक बात यह भी है कि हमारी परम्परा में जो जितना प्राचीन होता है, वह उतना ही श्रद्धेय माना जाता है। इस कारण से, हर मामले में, उसकी प्राचीनता के बीज और संकेत खोज लिए जाते हैं। अब बात यह है कि भारतीय परम्परा इतनी भरी-पूरी और बहुआयामी है कि हर किसी सिद्धान्त या तथ्य के बीज प्राचीन साहित्य में खोज ही लिये जा सकते हैं। आज वस्तुनिष्ठ तरीके से विचार करने का रिवाज है। कहना न होगा कि प्राचीनता में अपनी जड़ तलाश लेने की अभ्यासी हमारी परम्परा अधिकतर वस्तुनिष्ठ और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विचार करने में कठिनाई उत्पन्न करती है।

अस्तु। इस प्रकरण में, शाक्ततंत्र पर शोध कर चुके विद्वानों के द्वारा जो कुछ तथ्य प्रकाश में लाए गए हैं, उन्हें संक्षिप्त रूप में यहां प्रस्तुत किया जाता है-

(1) एक सम्पूर्ण अवधारणा एवं पद्धतिबद्धता के साथ जिन ग्रन्थों में दशमहाविद्या का उल्लेख और विवेचन हुआ है, वे सभी **पन्द्रहवीं शताब्दी** के बाद की रचनाएं हैं। तात्पर्य यह कि महाविद्या की अवधारणा का विकास पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद हुआ है।

(2) इसके पर्याप्त संकेत मिलते हैं कि नवीं शताब्दी से ही, कई क्षेत्रों यथा पूर्वी तथा पूर्वोत्तर भारत में, ब्राह्मणधर्मावलंबियों के द्वारा कई मातृदेवियों की उपासना प्रचलित हो गई थी, लेकिन महाविद्या के तौर पर इन्हें सुसंगत पद्धतिबद्धता पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद प्रदान की गई। यह कार्य पूर्वी एवं पूर्वोत्तर भारत- **बंगाल**, **आसाम**, **मिथिला** में सम्पन्न हुआ।

(3) शाक्ततंत्र और महाविद्या की अवधारणा को अपेक्षित स्वीकृति और संस्थाबद्धता प्रदान करना तत्कालीन ब्राह्मण-धर्म के सांगठनिक ऐक्य के लिए आवश्यक महसूस किया गया था। वह युग ऐसा था जब वज्रयान-तंत्रयान जनमानस

पर अपनी अमिट छाप छोड़कर भारत-भूमि से विलीन हो चुका था। मुस्लिम आक्रान्ताओं के अत्याचार से जनमानस सीदित था। विदेशी दासता का बोझ सिर पर सवार था। उस युग के शिखर धर्मचिन्तकों के लिए यह आवश्यक था कि अलग-अलग क्षेत्रों में जो मातृदेवियों के अलग-अलग रूप पूजित हो रहे थे, उन सबको एक तर्कसंगत स्वरूप प्रदान करें तथा प्राचीन धर्मचर्या से प्रेरक तत्त्व ग्रहण कर धार्मिक समाज का पुनर्गठन करें।

तत्कालीन दृष्टान्तों के अवलोकन से इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि सामाजिक पुनर्गठन की यह भावना काफी हद तक राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत थी। इसमें समूचे समाज के अंगीकरण का प्रयास निहित था। हम देखते हैं कि इस नवीन धर्मचर्या में कई प्रगतिशील तत्त्व विद्यमान थे। शूद्रों को, जिन्हें कि सामान्य रूप से ब्राह्मण-धर्मचर्या से या तो बहिष्कृत रखा गया था, या दोयम दरजा दिया गया था, इस सम्प्रदाय में समान धर्माधिकार दिया गया। स्त्रियों को सर्वोच्च श्रद्धा का अधिकारी बताया गया। यहाँ तक विहित किया गया कि जो कोई साधक स्त्रियों के प्रति किसी भी प्रकार से द्वेष रखेगा, वह कभी भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकेगा।

बौद्ध धर्मावलम्बियों के साथ हमेशा लड़ते-झगड़ते हुए उनका अतीत गुजरा था। अब जब बौद्धों का खात्मा हो गया तो उनसे अपनापन महसूस किया जाने लगा। इसे राष्ट्रीयता का एक स्पष्ट अभिलक्षण माना जा सकता है। भारतीय अस्मिता के जो बीज उनमें (बौद्धों में) निहित थे, वे अब स्पष्ट होकर अपना भावार्थ प्रकट करने लगे। उनकी धर्मचर्या का जो कुछ भी अंश जनता के किसी समुदाय में प्रचलित था, उन्हें उदारतापर्वूक हिन्दू धर्म में अंगीकार किया गया। ऐसा ही एक तत्त्व चीनाचार था। महाविद्या और चीनाचार–ये दो ऐसी विशिष्टताएँ हैं जिनसे तत्कालीन चिंतन की प्राथमिकताओं का हमें सहज ही बोध हो जाता है।

(4) यह नवीन धर्मधारणा एक और महत्वपूर्ण सामाजिक कारक से भी प्रेरित थी। समाज में धार्मिक प्रवृत्तियों का ह्रास हो रहा था। स्वयं शंकराचार्य के लेखन में हमें इस तथ्य की सूचना मिलती है कि घटती धार्मिकता और बढ़ते भोगवाद से वह काफी दु:खी थे। उन्होंने यह भी लक्ष्य किया था कि धार्मिक क्रियाकाण्ड में उलझे समुदाय भी अधिकतर भोगवृत्तियों से ही परिचालित होते थे। ऐसे में स्वाभाविक था कि समाज में नैतिक बल का ह्रास हो रहा था। समाज जैसे दो ध्रुवों में विभाजित हो गया था। चन्द लोग थे, जिन्हें मोक्ष की ही चिन्ता थी, और बाकी लोग भोग में उलझे थे। दोनों के बीच कोई पुल न था।

महाविद्या और चीनाचार की अवधारणा इस सन्देश के साथ उभरकर आई कि भोग और मोक्ष को एक दूसरे का प्रतिद्वन्द्वी या शत्रु न माना जाए। कहना

आवश्यक नहीं कि यह मार्ग **वज्रयान** का दिखाया हुआ मार्ग था।

तांत्रिक धर्मचर्या का यह नवीन संस्करण बहुत कम समय में भोग के जरिये मोक्ष का आश्वासन देता था। यह चिन्तन उस समय एक आन्दोलन की तरह उभरा कि—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षः
यत्रास्ति मोक्षः न च तत्र भोगः।
श्री सुन्दरी तर्पण तत्पराणां
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥

(जहाँ भोग है वहाँ मोक्ष नहीं है और जहाँ मोक्ष है वहाँ भोग नहीं है। यह तो महाविद्याओं की उपासना में तत्पर साधकों के लिए ही संभव है कि भोग और मोक्ष दोनों ही उनके हाथ की वस्तु होते हैं।)

कहा ही जा चुका है कि इस साधना में जाति, वर्ण, लिंग, सम्प्रदाय, क्षेत्र आदि का कोई बन्धन न था। भारतीय धर्मचर्या का यह एक अनोखा लोकतांत्रिक चेहरा था।

(5) पहले कहा ही गया कि क्षेत्रीय स्तर पर पूर्व से ही मातृदेवियों की उपासना प्रचलित थी। इनका सिद्धान्तीकरण–पद्धतीकरण तांत्रिक चिन्तकों ने किया। भारतीय परम्परा में तन्त्र–साधना के सात आचार निर्धारित थे– **वेदाचार**, **वैष्णावाचार**, **शैवाचार**, **दक्षिणाचार**, **वामाचार**, **सिद्धान्ताचार** और **कौलाचार**। इस गणना में जो जितना पीछे है, उतना ही प्रभावशाली माना जाता था। तात्पर्य कि **कौलाचार** को सर्वाधिक प्रभावशाली माना गया था। इन्हीं लोगों के द्वारा इस नई धर्मधारणा का प्रवर्त्तन किया गया। जनता ने अपूर्व आत्मीयता के साथ इसे ग्रहण किया। इसके विकासक्रम की हम पड़ताल करें तो पाते हैं कि आगे चलकर ये **कौलाचारी** (दूसरे शब्दों में चीनाचारी) **पंचमकार** (मद्य, मांस, मदिरा, मैथुन और मुद्रा) में ही फँसे–उलझे रह गए जबकि जनता ने इस धर्मचर्या को अपनी अस्मिता बना ली। यह जन–धर्म बन गया। पहले से महाविद्याओं के दो वर्ग निर्धारित थे। कमला, भुवनेश्वरी, बाला, धूमावती आदि देवियों की उपासना के लिए तो **दक्षिणाचार** की छूट दी गई थी, किन्तु काली, तारा, सुन्दरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, मातंगी एवं बगलामुखी की उपासना के लिए **वामाचार** ही विहित था। जनता ने अपनी श्रद्धा के अतिरेकवश यह छूट भी स्वयं ही ले ली।

हम देखते हैं कि शक्तिपूजक समुदाय की अपनी एक सामूहिक पहचान विकसित हुई। इसे हम बंगाली–समाज के रूप में आज भी देख सकते हैं। यूं, यह सामूहिक पहचान पूर्वी एवं पूर्वोत्तर भारत के सभी प्रान्तों में हुई। बंगाल ने इसमें

बाजी मार ली। दुर्भाग्यवश मिथिला इसमें पिछड़ गई। मिथिला के धर्मचिन्तकों में उदारता का अभाव था, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। उन्होंने ऐसी व्यवस्था सृजित की जिससे शक्ति-उपासना का लाभ तो चन्द लोग जरूर ले सकें लेकिन इसके चलते जनता की सामूहिक पहचान न बन पाए। वे सत्ता में थे। समाज पर पंडितों का यथावत वर्चस्व बनाए रखने के लिए उन्होंने कड़ी व्यवस्था दी, जिनमें लचीलेपन की गुंजाइश नहीं बनती थी। लोग शक्तिपूजक भी थे और सत्यनारायण की पूजा भी करवाते थे। तर्क दिया जा सकता है कि मिथिला के पंडित समन्वय चाहते थे- मांस-मछली का भोग करते हुए वैष्णव भी बने रहना चाहते थे, शैव भी। किन्तु तह में जाएँ तो साफ होता है कि वे समाज पर पंडितों का वर्चस्व बनाए रखना चाहते थे, जिसमें जनता भी अपना हित देखती थी और इसके लिए पूर्ण अनुकूलित थी।

अस्तु, शक्ति उपासना के इस नवीन संस्करण ने उत्तरोत्तर राष्ट्रीयता का उभार पैदा किया। लोगों ने अपनी अस्मिता को, अपने राष्ट्र को मातृदेवी के स्वरूप में देखा। **'वन्दे मातरम्'** केवल कहने के लिए नहीं कहा गया, यह भावना उनकी चेतना के साथ एकमएक थी। नए भारत के निर्माण में बंगाली चिन्तकों और क्रांतिकारियों का जो योगदान रहा है, वह किसी से छिपा नहीं है। अपने मूल में यह शक्तिपूजक समुदाय का सिंहनाद था। दुःख है तो यही कि पंडितों के दुष्चक्र में फँसकर मिथिला इसमें पिछड़ गई।

(6) महाविद्याओं की संख्या के संबंध में विभिन्न तंत्रग्रन्थों में जो कुछ कहा गया है, उसका विवरण पहले दिया जा चुका है। किसी भी जगह इसका कोई तर्कसंगत कारण नहीं बताया गया है कि महाविद्याएँ दस ही क्यों हैं या इन्हें दस की संख्या तक ही सीमित रखने का क्या अभिप्राय है!

इस संबंध में अध्येताओं के द्वारा तीन प्रकार की राय व्यक्त की गई है- **(क)** कई विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि महाविद्याओं की संख्या अन्तिम रूप से दस निर्धारित करने के पीछे वैष्णव धर्म की अवतारवादी धारणा है। ये कहते हैं कि विष्णु के दस अवतारों के अनुसरण में महाविद्याओं की संख्या दस निर्धारित की गई। अनेक परवर्ती वैष्णव एवं शाक्त ग्रंथों में इस आशय का स्पष्ट उल्लेख भी पाया जाता है। **डॉ॰ विनयतोष भट्टाचार्य** ने तो यह प्रस्तावित किया कि 9-12वीं सदी के बीच दक्षिण भारत में जब विष्णु के दस अवतारों को अन्तिम रूप दिया गया तो उसी समय उनकी दस स्त्री आख्याओं का भी निर्धारण किया गया। किन्तु, **डी.सी. सरकार** इससे सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि विष्णु के दस अवतारों के अनुसरण में तो यह अवधारणा जरूर आई है किन्तु यह तांत्रिक सम्प्रदाय के द्वारा ही निष्पादित हुई है। **(ख)** कुछ अन्य विद्वान यथा **डॉ॰ रामचन्द्र**

राव यह उपस्थापित करते हैं कि वस्तुतः दस महाविद्याओं की अवधारणा शिव के दस स्वरूपों के अनुसरण में की गई है। (ग) तीसरा मत **अलेक्स वेमेन** आदि का है, जो मानते हैं कि दस महाविद्याओं का संख्या-निर्धारण वस्तुतः बौद्ध परम्परा की दस भूमियों तथा एकनिष्ठ स्वर्ग की अवधारणा पर आधारित है। कहना न होगा कि इन सभी मतों के समर्थन में अनेकानेक तथ्य तथा तर्क प्रस्तुत किए गए हैं।

(7) इस अवधारणा की आधारशिला है कि लोकोत्तर अस्तित्व की सर्वोच्च सत्ता ही महाविद्या है। **इच्छा**, **क्रिया** एवं **ज्ञान** ये तीन इनके विविध पहलू हैं। कहा गया है कि यह सर्वोच्च सत्ता, पराशक्ति ही मायाशक्ति के रूप में सृष्टि का निर्माण करती हैं व विभिन्न उपकरणों से इसका पोषण व विनाश करती हैं। इस तरह इनके वर्गीकरण का मामला उभरता है। विभिन्न आधार-ग्रन्थों में महाविद्याओं के वर्गीकरण को लेकर विभिन्न मत प्रस्तुत किए गए हैं। वर्गीकरण का एक संक्षिप्त आकलन पहले प्रस्तुत किया जा चुका है।

मुण्डमालातंत्र में महाविद्याओं को दो कुलों में वर्गीकृत किया गया है। (1) **कालीकुल** में काली, तारा, छिन्नमस्ता, भुवना, महिषासुरमर्दिनी, त्रिपुरा, त्वरिता, दुर्गा तथा प्रत्यंगिरा को रखा गया है जबकि (2) **श्रीकुल** में सुन्दरी, भैरवी, बाला, बगलामुखी, कमला, धूमावती, मातंगी, स्वप्नावती तथा मधुमती को रखा गया है। हम देख सकते हैं कि अन्तिम रूप से संख्या-निर्धारण के समय इनमें से कई देवियों को महाविद्या-परिवार से हँटा दिया गया है।

प्राणतोषिनी का वर्गीकरण शक्ति की त्वरा पर आधारित प्रतीत होता है। उसके द्वारा निर्धारित तीन वर्ग इस प्रकार हैं–

(1) **महाविद्या**- काली तथा तारा (2) **विद्या**-षोडशी, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता (3) **सिद्धविद्या**- धूमावती, बगलामुखी, मातंगी तथा कमला।

इसी प्रकार, प्राप्तव्य के दृष्टिकोण से भी महाविद्याओं का वर्गीकरण किया हुआ मिलता है, जो इस प्रकार है– (1) **भोग एवं मोक्ष की प्राप्ति**–काली (2) **तीव्र ज्ञान की प्राप्ति**– तारा (3) **धन एवं स्वर्ग की प्राप्ति**–षोडशी, भुवनेश्वरी तथा छिन्नमस्ता (4) **सत्कर्म में साफल्य एवं विविध अभिचार** (मारण, वशीकरण, स्तम्भन, उच्चाटन आदि) **के हेतु**–धूमावती, बगलामुखी, मातंगी तथा कमला। वहीं यह भी उल्लेख मिलता है कि अभिचार की उद्देश्य-प्राप्ति हेतु चीनाचार की विधि से उपासना अनिवार्य है।

दिशाओं की साम्राज्ञी के तौर पर भी महाविद्याओं का उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त होता है। कहा गया है कि महाविद्या-परिवार की प्रत्येक देवी एक-एक दिशा की अभिभावक हैं, जो उसपर अपना पूर्ण नियंत्रण रखती हैं। विवरण

निम्नवत है– (1) **काली**-उत्तर (2) **षोडशी**-पूर्वोत्तर (3) **छिन्नमस्ता**-पूर्व (4) **धूमावती**-दक्षिणीपूर्व (5) **बगलामुखी**-दक्षिण (6) कमला- दक्षिण पश्चिम (7) **भुवनेश्वरी**-पश्चिम (8) **मातंगी**-उत्तरपश्चिम (9) **तारा**- ऊपर (आकाश) (10) **भैरवी**-नीचे (पाताल)। **जान वुडरफ** ने उपर्युक्त विवरण देते हुए यह भी संकेत किया है कि महाविद्याओं के लिए विहित दिशाएँ संभवतः उनके उद्भव प्रान्तों की दिशा बताती हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक महाविद्या का अंक भी निर्धारित किया हुआ मिलता है तथा उनकी रात्रियाँ भी विहित हैं। विवरण इस प्रकार हैं–

(1) **काली**-अंक 0, महारात्रि (2) **तारा**-1, क्रोधरात्रि (3) **षोडशी**-2, दिव्यरात्रि, (4) **भुवनेश्वरी**-3, सिद्धरात्रि (5) **छिन्नमस्ता**-4, वीररात्रि (6) **भैरवी**-5, कालरात्रि, (7) **धूमावती**-6, दारुणरात्रि (8) **बगलामुखी**-7, वीररात्रि (9) **मातंगी**-8, मोहरात्रि (10) **कमला**-9, महारात्रि।

तारा-पूजन के पुनरुद्भव की कथा

हिन्दू तन्त्र-परम्परा में तारा की प्रथम सिद्धि करनेवाले तथा इस प्रद्धति को व्यवस्थित करने का श्रेय साधक वशिष्ठ को है। ये वशिष्ठ कौन थे, कहां के निवासी तथा किस कुल-मूल के थे, इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक रूप से कोई निर्दुष्ट सूचना प्राप्त नहीं होती। किम्बदन्ती से प्राप्त परम्परा उन्हें ब्रह्मा का पुत्र वशिष्ठ मानती है। किन्तु, हमारी समझ से यह एक प्रतीकात्मक कथन है, क्योंकि सृष्टि के निर्माता ब्रह्मा के पुत्र तो हम सभी हैं।

हम जानते हैं कि भारतीय इतिहास के पौराणिक काल में ब्राह्मण-धर्म की तन्त्र-प्रक्रिया में तारा-साधना को स्वीकृति प्राप्त नहीं थी जबकि अन्य महाविद्याएं अलग-अलग नामों से समाहात्म्य, सविस्तर पूज्य थीं। इसका दृष्टान्त हम 'दुर्गासप्तशती' में देख सकते हैं, जहाँ सभी मातृदेवियों का उल्लेख है लेकिन तारा का कोई भी उल्लेख नहीं है। हम यह भी जानते हैं कि बौद्ध परम्परा में भी वज्रयान के उत्थान के बाद ही तारा-साधना की प्रक्रिया प्रकाश में आई। और हम यह भी जानते हैं कि हिन्दू तन्त्र तथा बौद्ध तन्त्र में सम्मिल्लन और सम्मिश्रण की प्रक्रिया इस घटना के कई सौ वर्ष बाद ही प्रकाश में आई। इस प्रकार, यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वशिष्ठ भारतीय इतिहास के पूर्व-मध्य-काल के उस दौर में हुए, जब दोनों तन्त्रों के सम्मिलन की परिस्थिति बन रही थी।

हिन्दू रीति से तारा की उपासना

'रुद्रयामल' तथा **'ब्रह्मयामल'** में साधक वशिष्ठ के द्वारा तारा-साधना का उल्लेख विस्तारपूर्वक किया गया है। उक्त विवरण का सारांश हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

अपने मानस-पिता ब्रह्मा से वशिष्ठ ने तारा-मन्त्र की दीक्षा प्राप्त की तथा निर्देशानुसार निर्जन स्थान पर जाकर अत्यन्त कठोर तपस्या करने लगे। पिता से ही उन्हें यह ज्ञात हुआ था कि तारा-विद्या सर्वोत्कृष्ट विद्या है, अत: इस विद्या को सिद्ध करने का उन्होंने कठिन संकल्प लिया। उनकी तपस्या की प्रचंडता का वर्णन करते हुए ग्रंथ में कहा गया है कि सामान्य कोटि की तपस्या से जब उन्हें अपनी

लक्ष्य-सिद्धि होती नहीं प्रतीत हुई तो उन्होंने एक हजार वर्ष तक मात्र एक चुल्लू जल पीकर कठिन साधना की। किन्तु, इससे भी देवी प्रसन्न नहीं हुई। इसके बाद, निरन्तर निराहार रहते हुए एक पैर पर सीधे खड़े होकर उन्होंने आठ हजार वर्षों की भयंकर तपस्या की। लेकिन, इसका भी कोई परिणाम नहीं निकला। दुखी और निराश होकर वे अपने मानस-पिता (जिसका मूल तात्पर्य गुरु से है) के पास आए तथा अपनी हताशा बताते हुए बोले कि आपकी बताई यह दु:साध्य विद्या मुझे बन्ध्या प्रतीत होती है, अत: इसे त्यागता हूँ।

किन्तु, मानस-पिता गुरु ब्रह्मा ने उन्हें बहुत सान्त्वना दी और पुन: तारा-साधना के लिए प्रेरित करते हुए कहा–'हे पुत्र, वह नीला देवी (तारा) परमा शक्ति है, वह जीव का समस्त संकटों से परित्राण करती हैं, वह करोड़ों सूर्यों की प्रभा के समान प्रकाशवान और करोड़ों चन्द्रों के समान सुशीतल है। वह महाकाल की शक्ति तारा, करोड़ों विद्युल्लताओं के समान ज्योतिर्मयी हैं। तारा समस्त भुवनों का त्राण करने में समर्थ हैं तथा ब्रह्मज्ञानमयी हैं। हे पुत्र! तुम पुन: संकल्प करो। शान्त चित्त से तुम फिर से उनकी साधना में प्रवृत्त होओ। शीघ्र ही तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी, इसमें सन्देह नहीं।'

इसके आगे कथा मिलती है कि पुन: वशिष्ठ जलप्रान्तर क्षेत्र में गए तथा एक हजार वर्षों तक पुन: अत्यन्त उग्र तपस्या की। देवी इस बार भी प्रसन्न नहीं हुई तो उनका धैर्य जवाब दे गया और उन्होंने अपनी तपस्या के समापन की घोषणा करते हुए इस साधना-प्रक्रिया को ही कठोर रूप से शापित कर देने का मन बना लिया। विवरण है कि उनके इस निर्णय से सम्पूर्ण लोकों में हाहाकार मच गया, क्योंकि वशिष्ठ एक ऐसे जघन्य संकल्प की ओर प्रवृत्त हो गए थे, जिससे आगे इस सृष्टि से ही तारा-विद्या का लोप हो जाने की संभावना बन गई थी।

इस हाहाकार की परिणति स्वरूप महाविद्या तारा स्वयं वशिष्ठ के समक्ष प्रकट हुई और बोलीं– 'हे वशिष्ठ! मेरे साधना-तत्त्व का सम्यक् ज्ञान तुम्हें नहीं है, इसके बावजूद विरुद्धाचार के द्वारा मुझे सिद्ध करने का प्रयास करके तुमने अपना इतना समय व्यर्थ ही बिताया। न तो तुम मेरी पूजा-पद्धति जानते हो न ही मेरे कुलागम का तुम्हें ज्ञान है। सनातन योगाभ्यास-पद्धति से तुम मुझे कैसे सिद्ध कर सकते हो क्योंकि इनसे तो मैं असाध्य हूँ। मेरी साधना तो केवल **चीनाचार-पद्धति** से की जा सकती है, और किसी से नहीं। मेरी साधना-पद्धति तो इस समय केवल साधक विष्णु (अपर नाम जनार्दन) जानते हैं, जो **महाचीन** (तिब्बत) में रहते हैं और स्वयं **बुद्धरूप** हैं। यदि तुम्हारा संकल्प अडिग हो तो तुम विष्णु के पास जाओ और उनसे पद्धति और प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त करो तभी तुम मेरा कुलज्ञ होते हुए तारा-महा-भाव की प्राप्ति में समर्थ हो सकोगे।'

कथा का तात्पर्य

यामलतंत्रग्रन्थों में वर्णित उपर्युक्त कथा में कई तत्त्व विशेष रूप से हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं–

(1) हिन्दूशास्त्र परम्परा में यहाँ तारातत्त्व का प्रथम ज्ञाता स्वयं ब्रह्मा को बताया गया है। ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता हैं। इसका तात्पर्य है कि जिसके भीतर सृजन-तत्त्व की प्रधानता है और जो निर्माण में रुचि रखता है, तारातत्त्व उसी को ज्ञात व प्राप्त हो सकता है। विध्वंस और तोड़-फोड़ की आकांक्षा रखनेवाले लोग तारातत्त्व का मर्म नहीं समझ सकते।

(2) ब्रह्मा ने वशिष्ठ को तारातत्त्व सिद्ध करने के लिए प्रोत्साहित किया। इसका तात्पर्य यह है कि निर्माण की आकांक्षा रखनेवालों को सदैव शुभ-कल्याणकारी कर्मों के लिए प्रेरित करना चाहिए। गुरु का यह कर्त्तव्य है कि जीवन में जो कुछ भी उसने विशिष्ट प्राप्त किया है, उसकी सिद्धि के लिए शिष्य को प्रवृत्त करे।

(3) वशिष्ठ के द्वारा कुल मिलाकर ग्यारह हजार वर्षों तक तारा की निष्फल साधना करने का उल्लेख किया गया है। यह वशिष्ठ के द्वारा की गई तपस्या की **त्वरा** का बोध कराता है। समय की अपनी गति है लेकिन कोई साधक अपनी क्रियाशक्ति की त्वरा बढ़ाकर एक सीमित समय के अंदर ही वह प्रगति प्राप्त कर सकता है, जिसे घटित होने में समय को हजारों वर्ष का क्रम पूरा करना पड़े। भौतिक जगत में भी हम देखते हैं कि कोई एक व्यक्ति इतने सीमित समय में उन्नति प्राप्त कर लेता है, जिसके लिए दूसरों का समूचा जीवन भी अपर्याप्त होता। इसे संकल्प और कर्म की सघनता समझनी चाहिए।

(4) अपनी तपस्या को निष्फल होते देखकर वशिष्ठ शाप देने को उद्यत हो गए। इससे यह स्पष्ट होता है कि वस्तुतः वशिष्ठ में उस समय तक वह परिपक्वता नहीं आ पाई थी, जो तारातत्त्व को सम्हाल पाने के लिए आवश्यक है। कुछ ग्रन्थों में तो यह उल्लेख भी मिलता है कि वशिष्ठ ने देवी को शाप दे ही दिया। और तब, अन्त में देवता और ऋषियों की प्रार्थना पर यह समाधान निकला कि तारा के बीजमन्त्र में संशोधन करके उन्हें सिद्धिदात्री के रूप में पुनर्प्रतिष्ठित किया गया।

(5) अपरिपक्व साधकत्व होने के बावजूद वशिष्ठ के द्वारा शाप देने की बात का तात्पर्य यह जानना चाहिए कि भले ही उन्हें तारा-तत्त्व सिद्ध नहीं था, किन्तु अन्य तत्त्वों की सिद्धि के कारण उनके द्वारा दिए गए शाप में अमोघत्व पाया जाता था।

(6) वशिष्ठ के हताश हो जाने के बावजूद पुनः ब्रह्मा ने उन्हें तारा-साधना के लिए प्रेरित किया। इसका एक तात्पर्य तो यह है कि एक सद्गुरु के नाते वे सच्चे हृदय से वशिष्ठ का उदात्तीकरण चाहते थे। दूसरा यह कि वशिष्ठ की खोजी प्रवृत्ति पर उन्हें भरोसा था और वे चाहते थे कि सनातन मार्ग में परमश्रेयमय तारातत्त्व, जिसे वे हर हाल में अवतरित करना चाहते थे, यह करने के लिए उचित पात्र वशिष्ठ ही हैं।

(7) ब्रह्मा स्वयं वशिष्ठ को यह नहीं बता सके कि तारा-सिद्धि की प्रक्रिया बौद्ध सिद्ध विष्णु जानते हैं। यह बात बताने के लिए स्वयं तारा को वशिष्ठ के सामने प्रकट होना पड़ा। इसका सामान्य अर्थ तो यही है कि स्वयं ब्रह्मा भी तारा कुलागम की वास्तविक पद्धति नहीं जानते थे।

(8) देवी तारा ने स्वयं वशिष्ठ को बौद्ध साधक के पास जाकर पद्धति ग्रहण करने का आदेश दिया। साथ ही, वशिष्ठ के द्वारा अपनाई जानेवाली पद्धति को असमर्थ बताया। इसका सामान्य तात्पर्य है कि सभी सिद्धियों के लिए सभी साधनाएँ उपयुक्त नहीं होतीं। सभी कर्मों के समान फल नहीं हो सकते।

हम अपनी ही परम्परा को वरेण्य मानकर आँख मूँदकर उसपर चलते रहते हैं और कामना करते हैं कि दूसरे लोगों की तरह हमें भी अपना लक्ष्य प्राप्त हो जाएगा। हम भूल जाते हैं कि रास्ता ही आगे चलकर मंजिल बनता है। अगर रास्ता गलत हो तो मंजिल कभी भी नहीं मिल सकता।

निश्चय ही, यह कथा एक ऐसे दौर का आख्यान बताता है जब हिन्दू-पद्धति में, बौद्ध-सम्प्रदाय से सकारात्मक तत्त्व ग्रहण करने की उदारता उत्पन्न हुई थी। वरना, हम भली-भाँती जानते हैं कि हिन्दुओं ने किस प्रकार बुद्ध से और बौद्धों से संघर्ष करते हुए शताब्दियों का समय गँवाया।

चीनाचार पद्धति से सिद्धि

एक बार फिर से हम यामलोक्त कथा के अगले चरण की ओर बढ़ें। कथा के अनुसार भगवती तारा से आदेश पाकर साधक वशिष्ठ ने महाचीन (तिब्बत) की यात्रा की। वे निर्देशानुरूप नियत स्थान पर पहुँचे। वहाँ उन्हें बुद्धस्वरूप विष्णु के दर्शन हुए। पहली दृष्टि में वशिष्ठ ने सिद्ध विष्णु को जिस रूप में देखा, उसका वर्णन इन शब्दों में किया गया है–

'वशिष्ठ ने देखा– रूप-यौवन-सम्पन्ना, मद्यपान-रता, शृंगाररसाविष्टा, भय-लज्जा-विहीना, देवी-ध्यान-परायणा सहस्र रमणियों से परिवेष्टित होकर बुद्ध

अवस्थित हैं। वे स्वयं मदिरापान से मत्त होकर मन्द-मन्द दृष्टि-निक्षेप कर रहे हैं। बुद्ध और उनके सभी संगी सिद्ध गण दिगम्बर-अवस्था में हैं।' (तारा-स्तव-मंजरी)

कहना आवश्यक नहीं कि इस दृश्य को देखकर वशिष्ठ चकित और विह्वल हो गए। एक ओर उन्हें तारा-तत्त्व का अभीप्सित लक्ष्य ध्यान आ रहा था तो दूसरी ओर उनकी यह चिन्ता मुखर हो उठती थी कि बुद्ध यह क्या कर रहे हैं!!

कथा कहती है कि उसी समय वशिष्ठ ने यह आकाशवाणी सुनी-

आचारः परमार्थोऽयं'तारिणी-साधने मुने!
एतद् रुद्ध-भावस्य मते नासौ प्रसीदति॥
यदि तस्याः प्रसादम् त्वम् अचिरेणाभिवाञ्छसि
एतेन चीनाचारेण तदा त्वं भज सुव्रत॥

(हे मुने! तारा की साधना में यह आचार प्रशस्त है। इसके विरुद्ध भाव के आचार से तुम तारा को प्रसन्न नहीं कर सकते। हे सुव्रत! यदि तुम शीघ्र से शीघ्र उन्हें प्रसन्न करना चाहते हो तो चीनाचार पद्धति से उनकी साधना करो।)

तदुपरान्त, वशिष्ठ सिद्ध विष्णु के समक्ष उपस्थित हुए और अपना धर्मसंकट रखा। उनकी समस्या यह थी कि अध्यात्म की उनकी वैदिक साधना में वे सभी चीजें निषिद्ध थीं, जिनका अतिरेक में सेवन होते हुए वे यहाँ प्रत्यक्ष देख रहे थे।

सिद्ध विष्णु ने अपने मार्गदर्शन में रखकर उनकी सभी शंकाओं का समाधान किया। उनका मुख्य सन्देश यही था कि जब तक साधक विधि-निषेध (यह करना चाहिए और यह न करना चाहिए) के द्वन्द्व में उलझा रहेगा, तारा-तत्त्व की सिद्धि उसे नहीं हो सकती। समस्त प्रकार के विकार-हेतुओं के बीच भी साधक को निर्विकार रहना पड़ेगा, और इसे साध लेना उच्च-स्तरीय साधना की प्रथम शर्त्त है।

चीनाचार साधना के सम्बन्ध में जिन मुख्य तथ्यों का ज्ञान सिद्ध विष्णु द्वारा वशिष्ठ को दिया बताया गया है, वे इस प्रकार है-

इस आचार की साधना के लिए सभी काल शुभ हैं। अशुभ कोई काल हो ही नहीं सकता। दिन, रात्रि, संध्या या महानिशा की आराधना में कोई अन्तर नहीं है। इस आचार में शुद्धि व अशुद्धि का कोई विचार नहीं पाया जाता है। बिना स्नान किए या भोजन कर लेने के बाद भी उपासना करने से कोई फर्क नहीं पड़ता। इस साधना में साधक के लिए विशिष्ट निर्देश यह है कि वह कभी भी स्त्रियों से द्वेष न करे अपितु उनकी पूजा करे।

यहाँ यह विशेष रूप से ध्यान रखने की बात है कि चीनाचार-पद्धति में

विधि-निषेध के बन्धन से मुक्त होना ही सबसे प्रधान तत्त्व है। सुनने में यह बात आसान लग सकती है लेकिन सच में यह अत्यन्त दु:साध्य है। विधि-निषेध के बन्धन में तो व्यक्ति जन्म लेते ही बँध जाता है। पारिवारिक व सामाजिक संस्कार, देश-काल की प्रथाएँ व रीतियाँ, सभी कुछ विधि-निषेध का बन्धन पैदा करने वाले हैं। इस बन्धन से मुक्ति का प्रयास करते ही व्यक्ति लांछन और उपहास का पात्र बनता है। इन सभी को स्वीकार करके भी अपने व्यक्तित्व को सन्तुलित रखनेवाला व्यक्ति ही इस पद्धति की साधना का पात्र हो सकता है। इस तरह, हम कह सकते हैं कि इस पात्रता का आ जाना ही किसी साधक को विशिष्टता प्रदान कर देता है। अस्तु! इसके उपरान्त प्रसंग वर्णित है कि विष्णुरूपी जनार्दन के मार्गदर्शन में शीघ्र ही वशिष्ठ को सिद्धि प्राप्त हुई।

तथ्य और आख्यान

ऊपर **रुद्रयामल** तथा **ब्रह्मयामल** में वर्णित प्रसंग का सारांश प्रस्तुत किया गया। इसी आशय का कथा-प्रसंग **कालिकापुराण** तथा **योगिनीतंत्र** में भी आया है। चारों आधार-सामग्रियों को मिलाकर देखें तो इस सम्बन्ध में हमें निम्नलिखित सूचनाएँ प्राप्त होती हैं–

1. ब्राह्मण-धर्म में तारातंत्र के अविष्कर्त्ता वशिष्ठ थे।
2. सर्वप्रथम वशिष्ठ ने वैदिक रीति से तारा-साधना की थी, जिसमें उन्हें सिद्धि प्राप्त नहीं हुई थी।
3. पहले दौर की साधना उन्होंने निर्जन स्थान में तथा जलप्रान्तर में की थी।
4. पहले दौर में उन्होंने किसी ऐसी देवी की साधना की थी, जिन्हें ब्रह्मा ने 'नीला' देवी या बुद्धेश्वरी बताया था। वह देवी संभवत: गिरिजा थीं।
5. वशिष्ठ के समय में भारत से तारा-विद्या लुप्त हो चुकी थी, और अब वह चीन या महाचीन में ही बच रही थी।
6. उन्होंने बुद्धरूपधारी 'महादेव' से चीनाचार की दीक्षा प्राप्त की थी।
7. चीन या महाचीन पूर्णत: एक बौद्ध देश था, जहाँ अथर्ववैदिक साधना-पद्धति प्रचलन में थी।
8. चीनाचार की पद्धति को ही कुल मार्ग या कुलाचार कहा जाता था।
9. इस कथा में महाचीन से वशिष्ठ के लौटकर आने का कोई भी जिक्र नहीं है।

किन्तु, स्थानीय परम्परा में इस कथा के उत्तरार्ध-स्वरूप एक किम्बदन्ती मिलती है। कहा ही जा चुका है कि तंत्र की दुनिया में किम्बदन्तियों का एक अलग ही लोक है और उन्हें पर्याप्त महत्त्व भी दिया जाता है। इस किम्बदन्ती के अनुसार तारा की सिद्धि के बाद वशिष्ठ ने उन्हें (तारा को) एक युवा भैरवी (सहधर्मी साधिका) के रूप में प्राप्त किया। उनके साथ वशिष्ठ महिषी आए और अपनी कुटी में निवास करते हुए उच्चस्तरीय साधना में लग गए। किम्बदन्ती के अनुसार वशिष्ठ के साथ तारा की यह शर्त्त थी कि जब भी कभी उनके प्रति वशिष्ठ के मन में सन्देह या द्वेष का भाव आएगा, वह प्रस्तर-प्रतिमा में परिणत हो जाएँगी। अब प्रसंग यह है कि जिस परिसर के वशिष्ठ थे, वह वैदिक धर्मावलम्बी ब्राह्मणों का समाज था। आचार और नैतिकता के उनके अपने मानदंड थे। **चीनाचार** उनके लिए एक अबूझ और निषिद्ध वस्तु थी। वशिष्ठ की युवा भैरवी स्वयं तारा हैं, यह न वशिष्ठ बता सकते थे, न समाज समझ सकता था। फलस्वरूप हुआ यह कि वशिष्ठ की निन्दा समूचे परिसर में होने लगी। इसके आगे के घटनाक्रम का वर्णन 'तारा माहात्म्य' पुस्तिका के लेखक **स्व० पं० नारायण झा** ने इन शब्दों में किया है–

''कुछ समय के बाद सप्तर्षि मुनिमण्डली के बहुसंख्यक मुनि एक दिन ब्राह्ममुहूर्त्त में पवित्र कुण्डों में स्नानकर भगवती की आराधना के लिए यहाँ आए। उस समय महामुनि वशिष्ठ को सोए हुए देखकर किसी ने कहा कि इस दिव्य स्थान और पुण्यदायक इस ब्राह्ममुहूर्त्त में कौन सोया हुआ है? इस पर उसी मंडली के किसी मुनि ने तत्क्षण जवाब दिया- वशिष्ठ महाराज ही न होंगे! यह व्यंग्योक्ति सुनकर महामुनि वशिष्ठ उठकर सावधान होकर सोचने लगे कि परमेश्वरी माँ के भी इस रूप में रहने के कारण मेरी बदनामी इस तरह चतुर्दिक फैल गई कि बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी भी मेरी निन्दा इस रूप में करते हैं। अपने मन में ऐसी भावना के उठते ही मुनिवर वशिष्ठ चकित हो गए कि यह भावना माँ के लिए कहीं घृणा तो नहीं हुई? यह विचार आते ही वे दौड़कर परमाराध्या माँ को देखने के लिए गए तो देखा कि माँ पाषाणमयी होकर स्थित हैं। ऐसा देखकर महामुनि वशिष्ठ बहुत दु:खी हुए और सकरुण प्रार्थना करने लगे कि हे माँ! आप पुन: उसी रूप में मुझे दर्शन दें। इस पर आकाशवाणी हुई कि हम दोनों के मध्य में तो यही प्रतिज्ञा थी अत: अब ऐसा नहीं हो सकता है। आप इसी रूप में मुझे देखकर सन्तुष्ट होने की चेष्ठा करें।''

तथ्यों के आईने में तारा-उपासना

अब एक रोचक तथ्य यह है कि वर्त्तमान में प्रशस्त, देश के तीन तारा मंदिर– **उग्रतारा स्थान**, **गोहाटी** (आसाम), **तारापीठ**, **वीरभूम** (बंगाल) तथा **उग्रतारास्थान**, **महिषी** (बिहार) अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार वशिष्ठ को 'अपना' मानते हैं। तीनों ही जगह उपर्युक्त किम्बदन्ती प्रचलित है। तीनों की ही परम्परा कहती है कि वशिष्ठ ने तारा के साथ वहीं रहकर उच्चस्तरीय साधना की थी, जिसके अन्त में तारा प्रस्तर-प्रतिमा में परिणत हो गई। दूसरी तरफ यदि हम अध्येताओं और शोधप्रज्ञों की स्थिति पर गौर करें तो पाते हैं कि जहाँ **निर्मलप्रभा बारदलाई** तथा **सुकुमारी भट्टाचार्जी** ने वशिष्ठ को क्रमश: कामाख्या एवं नाभिपीठ गोहाटी से जुड़ा हुआ घोषित किया, वहीं **विमला घोष** उनका संबंध तारापीठ (बंगाल) से बताती हैं। इन दोनों ही मतों के उलट **डॉ० स्वराज अग्रवाल** ने अपनी पुस्तक (भारत के पूजास्थल) में वशिष्ठ का संबंध उग्रतारा स्थान, महिषी (बिहार) के साथ प्रमाणित किया है।

किन्तु, वशिष्ठ की पहचान को लेकर भी अनेक मत-मतान्तर देखने में आते हैं। इतिहास-दृष्टि से शून्य कुछ अप्रामाणिक पुस्तिकाओं में वशिष्ठ को रघुकुल के गुरु वशिष्ठ से अभिन्न बताया गया है। किन्तु गंभीर पुस्तकों में इस मान्यता को इतना तुच्छ माना गया है कि विचार के योग्य भी नहीं समझा गया है। **डॉ० विकास कुमार भट्टाचार्य** ने अपनी पुस्तक (तारा इन हिन्दुइज्म) में एक अन्य समस्या पर भी गहराई से विचार किया है। बात दरअसल यह है कि **कालिकापुराण** और **योगिनीतंत्र** में वशिष्ठ को नीलाचल पर्वत (कामाख्या) पर तपस्या करते हुए दिखाया गया है और यह बताया गया है कि सिद्धि पाने में असफल होने पर वशिष्ठ ने तारा को शापित कर दिया था। गौर करने की बात है कि एतद्विषयक प्रामाणिक ग्रन्थ **रुद्रयामल** और **ब्रह्मयामल** में इस प्रसंग का सर्वथा अभाव है। वहाँ उन्हें निर्जन स्थान तथा जलप्रान्तर में तपस्या करते हुए दिखाया गया है, जहाँ असफलता पाकर वह **महाचीन** गए और अन्तत: सिद्धि प्राप्त की। डॉ० भट्टाचार्य ने स-तर्क यह प्रस्तावित किया है कि उपर्युक्त दोनों वशिष्ठ भिन्न-भिन्न हैं तथा अलग-अलग शताब्दियों में विद्यमान रहे हैं। यह जरूर है कि दोनों ही तारातन्त्र के प्रख्यात प्रयोक्ता हुए किन्तु चीनाचार द्वारा तारासाधना के आविष्कर्त्ता वशिष्ठ प्रथम (यामलोक्त) हैं, जिनका कामाख्या से कोई लेना-देना नहीं है।

वशिष्ठ की पहचान को लेकर एक विलक्षण अभिमत **डॉ॰ सुरेश चन्द बनर्जी** का है। उन्होंने अपनी पुस्तक (द न्यू लाइट ऑन द तन्त्र) में यह प्रमाणित किया है कि तारातंत्र के आविष्कर्त्ता वशिष्ठ वस्तुतः बौद्ध गुरु **नागार्जुन** हैं, यह कहा गया है कि चीनाचार में दीक्षित होने के बाद ही उन्होंने नवीन नाम ग्रहण कर लिया था। दशम शताब्दी मे प्रादुर्भूत बौद्ध गुरु नागार्जुन का स्थान महायान दर्शन के विकास में अनूठा है। उन्हें खास तौर से, बदली हुई परिस्थिति में तारा तंत्र के उद्धार का महान श्रेय दिया जाता है। यह प्रसिद्ध है कि वह महाचीन गए थे और वहाँ से पद्धति प्राप्त कर तारातंत्र का उद्धार किया था। किन्तु, इस विषय के अधिकांश अध्येता डॉ॰ बनर्जी के मत से सहमत नहीं हैं। उनका मुख्य ध्यान इस बात की ओर है कि ब्राह्मण-धर्म में तारातंत्र को स्वीकार्य बनाने का श्रेय बौद्ध गुरु नागार्जुन को नहीं दिया जा सकता, अतः ये दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

वशिष्ठ के काल-निर्धारण को लेकर भी काफी मत-मतान्तर देखे जाते हैं। छठी शताब्दी से दसवीं शताब्दी के बीच का कोई कालखण्ड हो सकता है, जब वशिष्ठ का होना संभावित बताया गया है। यामल-ग्रन्थों को आमतौर पर आठवीं शताब्दी में रचित मानने का रिवाज रहा है। लेकिन यह भी ध्यान रखने की बात है कि वशिष्ठ ऐसे समय में हुए जब भारत-भूमि से तारातंत्र का लोप हो चुका था और अब केवल महाचीन में जीवित था। यह परिस्थिति ग्यारहवीं सदी के बाद के ही भारतीय परिदृश्य पर लागू मिल सकती है, क्योंकि हम देखते हैं कि ग्यारहवीं शताब्दी का समय तो वह कालखण्ड था जब बौद्ध तारा सर्वाधिक लोकप्रिय मातृदेवी के रूप में पूजित हो रही थीं।

(2) इस बिन्दु पर प्रायः सभी अध्येता सहमत हैं कि ब्राह्मणधर्म में तारातंत्र का आविष्करण महाविद्या-अवधारणा के उद्भव के पहले ही हो चुकी थी। इस अवधारणा के उद्भव-काल में तारा सर्वाधिक लोकप्रिय देवी थीं। और, इतना ही नहीं, इन दोनों के बीच दो-तीन सौ वर्षों का अन्तर निश्चित रूप से था। इसी अन्तर-अवधि में अन्यान्य मातृ-देवियों की उपासना का प्रचलन अलग-अलग क्षेत्रों में हुआ। शोधकर्त्ताओं की राय है कि इन सभी क्षेत्रों के लोग तारा से परिचित थे- उनके इतिहास से भी, और इस तथ्य से भी कि ब्राह्मण-धर्म में तारा-उपासना विहित की गई है। **विकास कुमार भट्टाचार्य** ने तारातंत्र के उद्भव का काल 8-9वीं सदी तथा महाविद्याओं की अवधारणा का काल चौदहवीं शताब्दी प्रस्तावित किया है। इन दोनों का काल क्रमशः बारहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी तक जा सकता है।

किन्तु, इस संबंध में विशेषज्ञों के मतों में हमें भारी अन्तर दिखाई पड़ता है। इस सम्बन्ध में हमें प्रख्यात पुराविद् **डॉ॰ हीरानन्द शास्त्री** की राय को देखना

चाहिए। तारा पर किया गया उनका उल्लेखनीय कार्य अत्यन्त मौलिक कार्यों में से एक है। अपने विनिबन्ध (द ओरिजिन एंड कल्ट ऑफ तारा) में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सोलहवीं शताब्दी ही वह काल था, जब वशिष्ठ ने महाचीन जाकर तारा की सिद्धि प्राप्त की और तारा को उन्होंने महाविद्या के रूप में प्रतिष्ठित कराया। परिस्थिति का हवाला पूर्व में दिया ही जा चुका है कि इस काल तक भारत से यह तंत्र पूर्णतः लुप्त हो चुका था। किन्तु परवर्ती शोधकर्त्ताओं ने इस निष्कर्ष पर असहमतियाँ दर्ज की हैं। एक खास तथ्य यह उद्घाटित किया गया है कि ब्राह्मणतंत्र में तारा-साधना के दो अलग-अलग चरण थे। पहले चरण में तारा-साधना शैवों (कापालिकों) ने अधिगृहीत की थी। उस चरण में तारा का अभिधान '**भीमा एकजटा**' निर्धारित किया गया था। यह रौद्र स्वरूप की देवी थीं, जबकि बौद्धों की तारा सौम्यस्वरूपा थीं।

अध्येताओं के द्वारा इस बात के संकेत दिए गए हैं कि बौद्धों एवं ब्राह्मणों ने लगभग साथ-साथ तारा की उपासना आरम्भ की थी। बौद्धों में तो वह निरंतर लोकप्रिय होती गईं किन्तु कापालिकों की तारा परवर्ती काल में अलोकप्रिय होने की वजह से विस्मृत कर दी गईं, अथवा दुर्गा, भीमा आदि के नाम से परिवर्त्तित होकर पूजित होती रहीं। **डी.सी. सरकार** ने तो यह राय व्यक्त की है कि तारा मूलतः आर्यपूर्व युग के आदिम जनजातियों की देवी थीं, जिन्हें बौद्ध एवं ब्राह्मण दोनों ने लगभग साथ-साथ अपने-अपने सम्प्रदाय में प्रतिष्ठित किया था। किन्तु, दो चरणों की यह मान्यता **हीरानन्द शास्त्री** के पास नहीं पाई जाती। संकेत यह है कि मातृदेवी की उपासना तो भारतीय समाज में सदा से प्रचलित रही है, मुख्य बात है- मातृदेवी के रूप में तारा का अवतरण। परवर्ती शोधकर्त्ताओं में से एक अभिमत **गॉर्जियन** तथा **स्कॉटरमैन** (संपादित कृति 'उपनिषद' अन्तर्गत 'कुब्जिका उपनिषद्') का है, जो इस काल को पन्द्रहवीं शताब्दी के बीच मानते हैं। **डॉ॰ मुनीशचन्द्र जोशी** (ऐतिहासिक सन्दर्भ में शाक्त तंत्र) इसे ग्यारहवीं शताब्दी मानते हैं, जबकि डॉ॰ **कमल चौहान** (कल्चरल हिस्ट्री ऑफ नोदर्न इंडिया) का अभिमत है कि एक सम्प्रदाय के रूप में तारा-साधना का उद्भव दसवीं शताब्दी में हो चुका था, जिसका विकास परवर्त्ती काल में हुआ।

(3) डॉ॰ जे.सी. चटर्जी (कश्मीर शैविज्म) का यह अभिमत काफी हद तक स्वीकार-योग्य माना गया है कि काल-परिस्थितिवश बौद्धतंत्र एवं ब्राह्मणतंत्र एक-दूसरे के आस-पास आए, एक-दूसरे से श्रद्धापूर्वक प्रभाव ग्रहण किया और अन्ततः बौद्धतंत्र ने ब्राह्मणतंत्र में स्वयं को निमज्जित कर दिया। ऐसा होना इसलिए भी संभव हुआ कि दोनों के भीतर भारतीयता की सुरभि समान रूप

से भरी-पूरी थी। बारहवीं सदी में तुर्की साम्राज्य के उदय ने बौद्धों के पाँव अपनी जमीन पर से उखाड़ दिये और इधर पालवंश के बाद जो स्थानीय राजवंश (यथा सेन तथा कर्णाट) शासन में आए, उन्होंने बौद्धों को प्रश्रय देने से इनकार कर दिया। इसी परिस्थिति में ब्राह्मणधर्म के द्वारा तारातंत्र स्वीकार किया गया और आगे उन्हें (तारा को) महाविद्या की प्रतिष्ठा प्रदान की गई।

(4) वशिष्ठ के द्वारा आविष्कृत तारा उग्रतारा थीं। 'उग्र' के सम्बन्ध में कई प्रकार की व्याख्याएँ पाई जाती हैं। उन्हें इसलिए भी उग्र बताया जाता है कि साधना का फल प्रदान करने में वे अत्यन्त शीघ्रता बरतती हैं। यानी कि शीघ्रता के अर्थ में उग्र। किन्तु, यहाँ मूल अर्थ दूसरा है। वशिष्ठ की तारा **रौद्रस्वरूपा** थीं। वह बौद्धों की मूल परिकल्पना से काफी दूर थीं। बौद्धों में तारा के उग्र स्वरूप को या तो कुरुकुला कहा गया या एकजटा। एकजटा की उपासना की परम्परा ब्राह्मण-धर्म में भी पूर्व में थी, इसका उल्लेख पहले हो चुका है। वशिष्ठ के द्वारा एक ऐसी देवी तारा आविष्कृत हुई, जो स्वयं तो उग्र थीं ही, उनकी दो सहायक देवियाँ- **एकजटा** तथा **नीलसरस्वती** भी उग्र थीं। उन्होंने तारा के लिए पंचाक्षर बीजमंत्र आविष्कृत किया। यह बीजमंत्र ही एक-एक अक्षर घटकर क्रमशः एकजटा तथा नीलसरस्वती के लिए निर्धारित किया गया। बौद्धों में सौम्यरूपा तारा की प्रतिमा भी दो सहायक देवियों के साथ बनाने की परम्परा थी। यह खास तौर पर खदिरबनी तारा तथा आर्यातारा के सन्दर्भ में हम देख सकते हैं, जिनकी सहायक देवियाँ एकजटा तथा मारीचि थीं। इनमें से भी एकजटा का स्वरूप रौद्र था। हम पाते हैं कि आज भी तिब्बत के बौद्ध सम्प्रदाय में एकजटा को रौद्ररूपा ही माना जाता है। इसका सांगोपांग अध्ययन **स्टीफन बेयर** ने अपनी पुस्तक 'मैजिक एंड रिचुअल इन तिब्बत- द कल्ट ऑफ तारा' में प्रस्तुत किया है। अस्तु!

वशिष्ठ के द्वारा लीक से हटकर तारा की स्वरूप की परिकल्पना करना कोई अनोखी-अबूझ बात नहीं थी। सैकड़ों साधक ऐसा पहले भी कर चुके थे और इसीलिए तारा के विभिन्न भेदोपभेद प्रचलित थे। साधना की दुनिया में यह सहज संभाव्य माना जाता है। आधुनिक युग में तारा के एक महान बंगाली उपासक **रामप्रसाद** (1720-1781) ने तारा को विकराल स्वरूपा मानने से इनकार कर दिया था। वह कहते थे कि तारा किशोरवय की एक सुन्दर-सुकुमारी कन्या हैं, जो अत्यन्त सौम्य हैं और मंद-मंद मुस्काती रहती हैं। भक्त रामप्रसाद की तारा-सिद्धि इतनी प्रसिद्ध हुई कि महान सिद्ध रामकृष्ण परमहंस जब-तब काली के समक्ष रोते-कलपते रहते और कहते कि माँ, तुमने रामप्रसाद को ताड़ दिया, मुझे क्यों नहीं ताड़ती हो!

(5) तारातंत्र तथा अन्यान्य तंत्र ग्रन्थों, जिनमें तारा का प्रसंग आया है, में तारा का जो स्वरूप वर्णित किया गया है, वह बहुत ही विकराल है। वह नीलावर्णा हैं। कद की छोटी, मोटी तथा लम्बा उदर रखती हैं। उनके सिर पर जटाजूट है। सिर पर सर्प धारण करती हैं। आभूषण के तौर पर भी वह सर्पों को ही धारण करती हैं। उनके गले में मानव-मुंडों की माला है। वस्त्र के रूप में वह व्याघ्र-चर्म धारण किए हुए हैं। सिर पर पाँच खप्परों की बनी पंचमुद्रा धारण करती हैं। उनके चार हाथ हैं। एक हाथ में खड्ग, दूसरे में नीलकमल, तीसरे में कैंची तथा चौथे में खप्पर है। वह प्रत्यालीढ़ मुद्रा में शव के ऊपर खड़ी हैं। 'प्रत्यालीढ़' पद की व्याख्या **म. म. देवनाथ ठाकुर** (तंत्रकौमुदी) ने इस प्रकार की है– 'अग्रपश्चात् कृत सव्याप सव्यचरण-द्वयेत्यर्थः' अर्थात् बायें-दायें पाँवों का किंचित् आगे-पीछे स्थित होना प्रत्यालीढ़ मुद्रा है। यह गति का बोधक है। उनके पाँवों के नीचे स्थित शव कहीं तो सामान्य मानव-शव है तो कहीं शिव की आकृतिवाला बताया गया है। वह जोरों से अट्टहास कर रही हैं। वह पूर्ण युवती हैं किन्तु उनका रूप बहुत ही विकराल है। उनकी जीभ बाहर को निकली है। उनके चमकीले और तीक्ष्ण दाँत बाहर से ही दीख रहे हैं और भय पैदा करते हैं। एक सर्प के रूप में उन्होंने **अक्षोभ्य** को अपने सिर पर धारण कर रखा है। उनके तीन नेत्र हैं, जो तीनों ही लाल-लाल हैं। आदि-आदि। उनके सभी स्वरूप का वर्णन ध्यान-मंत्र में किया गया है, जो इस प्रकार है–

प्रत्यालीढ़ पदार्पिताङ्घ्रि-शवहृदि घोराट्टहासा परा
खड्गेन्दीवर-कर्तृ-खर्परभुजा हुंकारबीजोद्भवा।
खर्वानील-विशाल-पिंगलजटाजूटैक नागैर्युता
जाड्यं न्यस्य कपालकैर्त्रिजगतां हन्त्युग्रतारा स्वयम्।।

प्रसंगवश, **विरूपाक्ष** कवि ने बहुत ही सुन्दर छन्द में एक तारा-स्तुति लिखी है, जिसका एक अंश यहां उद्धृत करने का लोभ हम संवरण नहीं कर पा रहे हैं। तारा के स्वरूप का वर्णन वह इस प्रकार करते हैं–

दधती नेत्र त्रितयं रक्तम्।
गुरुमक्षोभ्यं जटासु रक्तम्।।
नीला सुतनुर्वसु मितनागा।
शवहृदि दन्तपदा शमितागा।।
हस्तचतुष्केनापि विशाले।
विधृतास्युत्पलकर्तृ कपाले।।
नवमुण्डोज्ज्वल मालामुदिते।

नवयौवनमयवपुषा ललिते।।
दधती व्याघ्राजिनमपि वसनं।
कुर्वत्यट्टं घोरं हसनम्।।
दिव्यालंकृतिनिकराभरणे।
लम्बोदरि सुरवन्दितचरणे।।
मा भैर्मा भैरिति जल्पन्ती।
पितृवनभूमावपि विलसन्ती।।...

(6) किन्तु, एक विरोधाभास का उल्लेख भी यहां कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। देश-विदेश के विभिन्न स्थलों पर आज विविध रूपों में तारा की 370 प्रतिमाएं प्राप्त होती हैं। इनका विवरण हम पीछे दे आए हैं। इनमें से अधिकांश प्रतिमाएं संग्रहालयों में हैं। जो तारा एक युग में जन-जन की देवी थीं, आज उनका मन्दिर काफी कम संख्या में बच गया है। बिहार में तो एकमात्र महिषी है, जहां तारा की प्रतिमा पूजित है। काफी खोजबीन करने के बाद मुझे, देश के भीतर जिन-जिन स्थानों पर तारामंदिर के विद्यमान होने का उल्लेख प्राप्त हुआ है, या मैं जहां गया हूँ, की सूची इस प्रकार है–

1. उग्रतारा मंदिर, **भुसन्दपुर** (आसाम)
2. उग्रतारा मन्दिर, **कामरूप** (आसाम)
3. उग्रतारा स्थान, **गोहाटी** (आसाम)
4. तारामन्दिर, **केचायघाटी**, सदिया (आसाम)
5. उग्रतारा मन्दिर, **निरकारपुर** (उडी़सा)
6. उग्रतारा मन्दिर, **शेरगढ़**, बालासोड़ (उडी़सा)
7. तारापीठ, **वीरभूम** (बंगाल)
8. उग्रतारा स्थान, **महिषी** (बिहार)

विरोधाभास की बात यह है कि उपर्युक्त मंदिरों में जो तारा की प्रतिमा है, इनमें से कोई भी ध्यानमंत्र में वर्णित तारा के स्वरूप, जिसका विवरण ऊपर दिया गया है, से मेल नहीं खाती है। सभी स्थानों पर तारा का एक ही ध्यानमंत्र प्रचलित है, लेकिन कोई भी मूर्त्ति उसके अनुरूप नहीं है। देव प्रतिमा के निर्माण की क्या प्रक्रिया थी, इसका उल्लेख हम पहले ही कर आए हैं। हम जानते हैं कि शास्त्रीय लक्षण-ग्रन्थों से प्रतिमा का शतप्रतिशत मेल खाना अनिवार्य था, और इसमें मूर्त्तिकार को अपनी कल्पनाशीलता का परिचय देना वर्जित था।

उपर्युक्त मंदिरों में स्थापित ये तारा-प्रतिमाएं एक-दूसरे से कितनी भिन्न हैं, इसका उल्लेख करते हुए **विकास कुमार भट्टाचार्य** ने अपनी पुस्तक में एक मजेदार वाकया दर्ज किया है। **डॉ. विकास** उग्रतारा स्थान गोहाटी के प्रधान पुजारी से मिलने गए। जब उन्होंने उनसे यह जानना चाहा कि ध्यानमंत्र से तारा की प्रतिमा मेल क्यों नहीं खाती है, तो वे कोई भी संतोषजनक उत्तर न दे पाए। इसी क्रम में विकास ने उन्हें तारापीठ (बंगाल) की प्रतिमा का फोटो देखने दिया, यह बताते हुए कि उक्त मंदिर में तारा का ऐसा स्वरूप है। किन्तु, प्रधान पुजारी ने इस बात को मानने से इनकार कर दिया कि यह तारा की प्रतिमा हो सकती है। उनका कहना था कि यह तो काली की प्रतिमा है, और तारा उनसे काफी भिन्न स्वरूप की हैं।

बताना आवश्यक नहीं कि महिषी के मंदिर में स्थापित प्रतिमा भी ध्यानमंत्र से बिल्कुल ही मेल नहीं खाती है। महिषी की तारा-प्रतिमा का पूर्ण विवरण हम अन्यत्र दे आए हैं।

ध्यानमंत्र से प्रतिमाओं के मेल न खाने का क्या अर्थ है? इसका अनुमान करना बहुत कठिन नहीं है। एक युग में तारा जन-जन की देवी थीं, यही बात इस युग में भी इनकी जन-जन-पूज्या होने का कारण बन रही है। जिस परिक्षेत्र में तारा की जो प्रतिमा प्राप्त हुई, सच्चे हृदय से जनता ने उनके प्रति अपनी श्रद्धा न्योछावर की। पोथी पर जनता की विजय का यह दृष्टान्त है। चीनाचारी तांत्रिकों की पकड़ से छूटकर तारा आज जनता की देवी हो गई हैं। अब तो स्थिति यह है कि चीनाचार में विहित आचरणोंवाला कोई साधक मिलना एक कठिन बात हो चुकी है। चीनाचार का पथ तो वह पथ था जिसपर वशिष्ठ जैसे सिद्ध पुरुष भी चलते-चलते फिसल गए। लेकिन, आज हम देखते हैं कि तारा की उपासना के लिए चीनाचार या वामाचार की भी कोई जरूरत नहीं रह गई है।

बताया ही जा चुका है कि महिषी में पूजित तारा-प्रतिमा खदिरबनी तारा हैं, जो हरिततारा का एक प्रभेद हैं। वह उग्र नहीं, सौम्य हैं।

(7) प्रभेद की बात आई तो प्रसंगवश एक दृष्टि इस ओर भी डाल लेनी अनुचित न होगी।

तारातंत्र के अविष्करण के कुछ शताब्दी बाद हम देखते हैं कि जिस प्रकार बौद्ध परम्परा में तारा के अनेक भेद-उपभेद प्रचलित थे, ठीक वैसी ही स्थिति ब्राह्मण-तंत्र में हुई, जहां आम्नाय-भेद से तारा के विविध प्रकार-उपप्रकार प्रचलित हो गए। **म..म. गोपीनाथ कविराज** (तांत्रिक साहित्य) तथा **पं. चक्रेश्वर भट्टाचार्य** पूर्व प्रधान पुजारी, उग्रतारास्थान, (गोहाटी) ने आम्नाय-भेद से निम्न

भेदोपभेदों का उल्लेख अपनी पुस्तकों में किया है–

1 पूर्व आम्नाय

1. स्पर्शतारा 2. चन्द्रघण्टा 3. चन्द्रतारा 4. घण्टिका 5. त्रैलोक्यविजया

2 दक्षिण आम्नाय

1.चिन्तामणि 2. सिद्धजटा 3.त्रिजटा 4. क्रूरमालिका 5.क्रूरचण्डा 6. महाचण्डा 7. वज्रतारा 8. मणितारा 9. ब्रह्मतारा 10. नारसिंही 11.चतुर्वेदोद्धारी

3 पश्चिम आम्नाय

1. उग्रतारा 2. हंसतारा के 48 प्रभेद

4 उत्तर आम्नाय

1. तारा 2. उग्रा 3.महोग्रा 4.वज्रा 5. काली 6. सरस्वती 7.कामेश्वरी 8. भद्रकाली

5 ऊर्ध्व आम्नाय

1. महोग्रतारा 2. महानीला 3. संभवतारा 4. महानीलसरस्वती 5. चीनसुन्दरी 6. नीलसुन्दरी 7. महानीलसुन्दरी

डॉ. विकास कुमार भट्टाचार्य ने अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है कि आज देश के शक्तिपूजक सम्प्रदायों में कोई भी ऐसा गोत्र या वंश नहीं है, जिसकी कुलदेवी तारा या उग्रतारा हो। यह बात उन्होंने थोड़े अफसोस के साथ कही है। उनको दुख है कि एक युग में जो तारा इतनी गहराई से जनमानस के साथ जुड़ी हुई थीं, कौलिक पहचान के रूप में आज उसका सर्वथा अभाव है।

लेकिन हम देखते हैं कि डॉ. विकास के आकलन में गंभीर तथ्यात्मक भूल है। ऐसा लगता है कि उन्होंने बंगाली समाज के बारे में तथ्य निरूपित करते हुए अति उत्साह में सम्पूर्ण देश का हवाला दे दिया है। हो सकता है कि बंगाल में ऐसा कोई वंश या मूल न हो जिसकी कुलदेवी तारा हों लेकिन मिथिला में तो तारा कुलदेवी के रूप में पूजित हो ही रही हैं। श्रोत्रिय मैथिल ब्राह्मणों का परम प्रसिद्ध मूल 'पलिवार महिषी' की कुलदेवी तो तारा हैं। संभव है, अन्य भी कुछ ऐसे मूल हों, जहां कुलदेवी के रूप में तारा पूजित होती हों।



डॉ. तारानन्द वियोगी

तारा के सिद्धपीठ महिषी (सहरसा) में 12 मई 1966 को जन्म।

पिता : स्व. बद्री महतो **माता** : स्व. बदामी देवी

शिक्षा: साहित्याचार्य, एम.ए., पी-एच.डी.

मिथिला-सम्बन्धित विषयों के प्रख्यात विद्वान, समकालीन मैथिली साहित्य के तेजस्वी लेखक के रूप में विशेष चर्चित। मूल लेखक तथा सम्पादक के रूप में अबतक 25 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित।

सम्मान : मुक्तिबोध सम्मान, किरण सम्मान, बाल-साहित्य के लिए साहित्य अकादेमी पुरस्कार आदि-आदि।

अत्यधिक चर्चित पुस्तकें : कर्मधारय रामकथा आ मैथिली रामायण, तुमि चिर सारथि, बुद्ध का दुख और मेरा, अतिक्रमण, हस्तक्षेप, ई भेटल तँ की भेटल, राक्षस की अंगूठी, देसिल बयना, मण्डन मिश्र और उनका अद्वैत वेदान्त (सं.), राजकमल चौधरी : सृजन के आयाम आदि।

संपर्क : बदरिकाश्रम, महिषी, सहरसा (बिहार)
tara.viyogi@gmail.com

सिद्धपीठ महिषी अत्यन्त प्राचीनकाल से वाराणसी के ही समान, तीर्थस्थल के रूप में प्रसिद्ध रहा है। इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में इसके 3000 साल के सांस्कृतिक इतिहास की एक रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। महिषी की देवी तारा मूलतः एक बौद्ध देवी हैं, जिन्हें सभी बुद्धों की माता का स्थान प्राप्त है। द्वितीय अध्याय में तारा-साधना के इसी प्राचीन इतिहास का विवरण है। हिन्दू धर्म में तारा के अवतरण, स्वीकार तथा उपासना का तथ्यसम्मत विवेचन तृतीय अध्याय में किया गया है। डॉ0 वियोगी ने अपनी मातृभूमि के सम्बन्ध में जो लम्बे समय से खोजबीन की है, यह पुस्तक भी उसका एक परिणाम है।


avarambh
Patna